समर्पण—

श्रीमान माननीय महानुभाव न्यायाचार्य

पण्डित (पूज्य श्री १०५ क्षु०) गणेशप्रसादजी वर्णी

संस्थापक स्याद्वाद-महाविद्यालय काशी

व सत्तर्क-सुधा-तरंगिणी पाठशाला

सागरके करकमलोंमे

सादर समर्पित।

शान्ति-सोपान

मकलयिता श्रौर श्रनुवादक

ब्र० ज्ञानानन्द जी न्यायतीर्थ

ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम् ।

शान्ति-सोपान

अर्थात्

परमानन्दस्तोत्र, स्वरूपसम्बोधन, सामायिकपाठ,
मृत्युमहोत्सव और समाधिशतक सानुवाद

संकलयिता और अनुवादक

ब्र० ज्ञानानन्द जी न्यायतीर्थ

प्रकाशक

प्रकाशचन्द्र शीलचन्द्र जैन, ज्वैलर्स,

चांदनी चौक, दिल्ली

द्वितीय संस्करण १०००] माघ, वीरनि० सं० २४८१ [मूल्य स्वाध्याय

विषय-सूची

प्रस्तुत रचनाके सम्बन्धमें

प्रस्तुत कृति में परमानन्दस्तोत्र, स्वरूपसम्बोधन, सामायिकपाठ, मृत्युमहोत्सव और समाधिशतक इन पाच सुन्दर आध्यात्मिक रचनाओं का उनके सरल अनुवाद के साथ संकलन किया गया है। इसके सकलयिता और अनुवादक स्वनामधन्य स्वर्गीय ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी हैं, जिनका पूर्व नाम प० उमरावसिह जी न्यायतीर्थ था और जिनके परिचयात्मक सस्मरण इसी रचना में श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय की 'जैन जागरण के अग्रदूत' नाम की पुस्तक से साभार दिये गये हैं। इन सस्मरणो में उनके विद्वान् लेखकों—श्री प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस और श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय डालमियानगर—ने ब्रह्मचारीजी के कर्त्तव्यनिष्ठा, कार्यसचालन-योग्यता, दयालुता, विद्याव्यसन आदि अनेक गुणो पर अच्छा प्रकाश डाला है। अत. उन पर से ब्रह्मचारी जी का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। फिर भी यहाँ उनका कुछ। पारिवारिक परिचय भी दे देना अनुचित न होगा।

उत्तरप्रदेश के जिला मेरठ में 'सलावा' नामका एक अच्छा कस्बा है। यहाँ जैन समाज के ४६ घर हैं जो प्राय: सभी सम्पन्न एव धार्मिक हैं। बाबा लालमनदास जी, बाबा भागीरथ जी वर्णी और ब्र० किशनचन्द जी आदि प्रसिद्ध त्यागियों के सहवास से यहाँ की समाज में अच्छी जागृति एवं धार्मिक रुचि रही है। ला० फकीरचन्द जी यहां के प्रमुख एवं धर्मनिष्ठ सज्जन थे। उनके पं० देवीसहाय जी और ला० मित्रसेन जी ये दो पुत्र थे। ये दोनों ही अपने सुयोग्य पिता के अनुरूप धार्मिक और सत्पुरुष

थे। पं० उमरावसिंह जी पं० देवीसहाय जी के सुयोग्य बड़े पुत्र थे और उनके छोटे भाई दीपचन्द जी थे। ला० दीपचन्द जी की विधवा पत्नी अभी भी मौजूद हैं और बड़ी धर्मात्मा तथा धर्मध्यान में निरत रहने वाली एक महिलारत्न हैं।

विक्रम संवत् १९६० में प० उमरावसिंह जी का विवाह हुआ और तीन वर्ष बाद ही वि० स० १९६३ में आपकी पत्नी तथा सद्य' जात पुत्री का वियोग हो गया। इस वियोग का प० उमरावसिंह जी पर बड़ा असर हुआ और घर से विरक्त हो विद्याध्ययन के लिये अन्यत्र चले गये। विद्याध्ययन पूर्ण कर बनारस के स्याद्वाद-महाविद्यालय में आपने सुपरिन्टेन्डेट के पद पर रह कर कई वर्ष तक धर्माध्यापक एव सेवाकार्य किया।

विक्रम स० १९७७ में वहाँ से त्यागपत्र देकर मथुरा के दि० जैन महाविद्यालय मे चले आये और वहां प्रधानाध्यापक हो गये। कुछ महिने बाद ही उन्होने सप्तम प्रतिमा धारण करली और ब्रह्मचारी हो गये। नाम भी पं० उमरावसिंह जी से ब्र० ज्ञानानन्द जी बदल लिया। दैवदुर्विपाक से विक्रम स० १९८० में आपका अल्पायु में ही स्वर्गवास हो गया।

आपने इस ग्रन्थके अतिरिक्त 'आप्तपरीक्षा' की कारिकाओंका भी अनुवाद किया है जो प्रकाशित हो चुका है। काशी में अहिंसा-प्रचारणी परिषद् की स्थापना कर उसके तत्त्वावधान मे 'अहिंसा' नाम की साप्ताहिक पत्रिका भी निकाली और जिसके द्वारा अहिंसा का आपने अच्छा प्रचार किया। इस पत्रिका को स्वतन्त्र एव स्वावलम्बी बनाने के लिये आपने 'अहिंसा' नामका एक प्रेस भी खोला। इस तरह आपने अपने थोड़े से जीवन में जो सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक सेवा की वह सदैव स्मरणीय रहेगी।

वर्तमान में आपके चाचा ला० मित्रसेन जी के तीन सुपुत्र विद्यमान हैं जिनके नाम हैं —१. ला० प्रकाशचन्द्र जी, २. ला० प्रेमचन्द्र जी और ३. ला० शीलचन्द्र जी। ला० प्रकाशचन्द्र जी व शीलचन्द्र जी देहली में

रहते हैं और सर्राफी का काम करते हैं। ला० प्रेमचन्द्र जी मसूरी में ला० बारूमल जी के यहाँ गोद हैं। ये तीनों भाई धार्मिक और भद्र हैं। दानादि में सदा तत्पर रहते हैं।

प्रस्तुत रचना का यह द्वितीय संस्करण पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेश-प्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य एवं ब्र० हुकुमचन्द जी सलावाकी सत्प्रेरणा से आपकी ओर से ही प्रकट हो रहा है। इसके लिये पूज्य वर्णी जी, ब्र० हुकुमचन्द जी और प्रकाशक जी तीनों ही महानुभाव समाज के विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है पाठकों को ब्रह्मचारी जी की इस सुन्दर आध्यात्मिक रचना के पठन-पाठन से बोध एवं शान्ति-लाभ होगा।

श्री समन्तभद्र संस्कृत-विद्यालय
दरियागंज, देहली

—दरबारीलाल जैन, कोठिया
(न्यायाचार्य)

मेरे गुरु

(श्री पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री)

१६१५ ई० की भाद्र मास की कृष्णा चतुर्थी को मैंने अपने भाई के साथ स्याद्वाद-विद्यालय के सुन्दर सुविस्तृत भवन में पदार्पण किया। उस समय पं० उमरावसिंह जी धर्माध्यापक और सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। जाते ही उनसे भेंट हुई। उन्होंने मुझे सिर से पैर तक देखा और मेरा म्लान मुख देख कर हस पड़े। वे—जैसा कि मुझे आगे चल कर मालूम हुआ—फूल से भी कोमल और पत्थर से भी कड़े थे। उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा अद्भुत थी। एक बार जिस कार्य को करने का संकल्प कर लेते थे उसे करके ही छोड़ते थे। उनकी एकान्त कर्त्तव्य-निष्ठाने ही उनके जीवन में कई बार दुःखद प्रसंग उपस्थित किये—जैसा कि मैं आगे लिखूँगा।

सामाजिक सस्थाओं के सचालन के लिये अधिकारियों नहीं - निस्वार्थ सेवकों की आवश्यकता है। शिक्षा-संस्थाओंके जीवन-स्वरूप छात्रोंके लिये शासककी नहीं, कर्त्तव्य-निष्ठ पितृतुल्य गुरुकी आवश्यकता है। पं० उमरावसिंह जी में दोनों गुण मौजूद थे, वे निस्वार्थ सेवक भी थे और कर्त्तव्य-निष्ठ गुरु भी। उन्होने अपने जीवन के थोड़ेसे कार्यकाल में जो कुछ किया, वह जैन सस्थाओके इतिहासमें सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

सस्थाओंके लिये लक्ष्मीपुत्रों की जेब से रुपया निकलवा लेना कितनी टेढ़ी खीर है? इसका उत्तर भुक्तभोगी ही दे सकते हैं; किन्तु स्याद्वाद-विद्यालय में जो धनिक जैन पधारते थे उनमें से विरले ही अपनी भरी पाकेट लेकर लौटते थे। जिस दिन मैं विद्यालय में प्रविष्ट हुआ, उसी दिन छपरा के सेठ केदारमल दत्तूमल ने एक हजार रु० ध्रौव्य-कोष में दान दिया था। यह स्वय उमरावसिंह जी की कर्त्तव्य-निष्ठा का सुफल था।

विद्यालयमें प्रविष्ट हुये, मुझे तीन दिन बीत चुके थे। वे तीन दिन मुझे तीन वर्षसे भी अधिक लम्बे मालूम पड़े। घर की अविकल स्मृति ने मुझे विकल कर रक्खा था। भूख और प्यास हवा हो गई थी। मेरे भाई अभी ठहरे हुए थे। वे जब २ घर जाने का नाम लेते थे, मेरी आँखों के आगे विस्तृत अंधकार छा जाता था, जिसमें अपने उद्धार का मुझे कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता था। आखिर दूसरा उपाय न देख कर मुझे उनसे अपने साथ घर लौटा ले जाने का अनुरोध करना पड़ा, किन्तु वे किसी तरह मेरे प्रस्ताव से सहमत न हो सके। अन्तमें, शोकाश्रुपूर्ण म्लान मुख ने मेरे सहोदर के स्नेही हृदय पर विजय पाई। वे मुझे घर ले चलने के लिये सहमत हो गये। घर पहुचने की कल्पना से मेरे सुस्त शरीरमें उत्साह की बिजली-सी दौड़ गई। हृदय आनन्दसे नाच उठा, मानो—जन्मके अन्धे को दो आँखें मिल गईं। अब हम दोनों भाई विद्यालयके अधिकारियों तथा विद्यार्थियों की आँखोंसे बचकर वहाँ से निकल भागने का उपाय सोचने लगे। अन्त में बहुत देर दिमाग लड़ाने के बाद, सन्ध्या को विद्यालय की प्रार्थना के समय छात्रों की हाजिरी ली जाती थी और उस समय पं० उमरावसिंह जी स्वय उपस्थित रहते थे। अत. हमको आशा थी कि प्रार्थना में उपस्थित रहने से अधिकारी हमारी ओर से निश्चिन्त हो जायेंगे और फिर रात भर कोई खबर न लेगा।

सन्ध्या आई, प्रार्थना के बाद मेरे भाई अपना 'बोरिया' 'बँधना' उठाकर विद्यालय से रवाना हुए। आँख बचाकर, उछलते हुए हृदय से उनके पीछे २ मैं भी 'एक, दो, तीन' हो गया। अभी हम विद्यालय के फाटक से कुछ ही पग जाने पाये थे कि मार्ग मे एक 'यमदूत' से भेंट हो गई। स्यात् मेरी भावभंगी से उसे मुझ पर कुछ शक हुआ और उसने तुरन्त पूछा—'कहाँ जा रहे हो?' मैं कुछ सकपकाया, किन्तु मामला बिगड़ते देखकर फ़ौरन उत्तर दिया—'भाई को पहुँचाने जा रहे हैं।'' काम बन गया। हम लोग आगे बढ़े और तेज़-सा इक्का किराया करके स्टेशन पर पहुँच ही तो गये। वहाँ कुलियों से पूछने पर मालूम

हुआ कि, रात में कोई भी गाड़ी पश्चिम की ओर नहीं जाती। बना-बनाया खेल बिगड़ता देख कर मैं फिर अधीर हो उठा, किन्तु सन्तोष के सिवा उस अधीरता का दूसरा इलाज भी तो नहीं था। लाचार हो कर, मुसाफिरखाने में एक ओर को बिस्तर बिछाकर मैं अपने भाई के साथ लेट गया। भाई तो लेटते ही कुम्भकर्ण से बाजी जीतने की तैयारी करने लगे और चिंताओं के आघात-प्रतिघात से क्लात हृदय मैं भी करुणामयी निद्रा देवी का आह्वान करने लगा। वे आई अवश्य, किन्तु कुछ अनमनी-सी होकर। अचानक किसी के पुकारने का शब्द सुन कर मेरी तन्द्रा भग हो गई। भाई भी जाग गये। मैंने धड़कते हुए हृदय से आंख खोल कर देखा तो मुँह से एक हलकी-सी बेबसी की चीख निकल गई। पं० उमरावसिंह जी के दो 'यमदूत' मुझे सशरीर पकड़ने के लिये मुंह बाये खड़े थे। उन्होंने आगा देखा न पीछा, झट से मुझे पकड़ ही तो लिया और इक्के में सवार कराके विद्यालय ले चले। दूर ही से अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे मेरे प्रिय भाई ने मुझे विदा किया। लगभग १५ दिन तक मेरा चित्त विक्षिप्त रहा। इस बीच में जब कभी मैं अधिक उद्विग्न हो जाता था तो पं० जी अपने पास बैठा कर 'मर्यादा' और 'सरस्वती' की फाइलों के चित्रों से मेरा अनुरजन करते थे।

यदि पं० उमरावसिंह जी उस समय मेरी ओर से उदासीन हो जाते और मुझे मेरे भाई के साथ भाग जाने का अवसर दे देते तो आज मेरे प्रारम्भिक जीवन की यह घटना मेरे ही अन्तस्तल के स्मृति-मन्दिर में विलीन हो जाती। शिक्षा-संस्थाओं के कर्ता-धर्ताओ मे से कितने भाई के लाल प० उमरावसिंह की तरह अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं।

× × ×

आर्यसमाज के विख्यात गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिक समारोह पर प्रतिवर्ष 'सर्वधर्म सम्मेलन' की आयोजना की जाती है। उस वर्ष जैनधर्म की ओर से निबन्ध पढ़ने के लिये प० उमरावसिंह जी उसमें सम्मिलित

हुए थे। जिन्हें आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं को—विशेषकर गुरुकुल कांगड़ी को—देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, वे बतला सकते हैं कि उनकी कार्यप्रणाली कितनी आकर्षक और उपयोगी होती है ? उनके विद्यार्थियों का शारीरिक, मानसिक और नैतिक बल स्पर्द्धा के योग्य होता है। प० उमरावसिंह जी ने यह सब देखा, उनके हृदय पर वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का बहुत कुछ असर पड़ा और वे बहुत से मनसूबे बाँध कर वहाँ से बनारस लौटे। विद्यालय की साप्ताहिक सभाओं मे अक्सर उनके भाषण होते थे, उनमें उनकी आन्तरिक भावनाओं का स्पष्ट निर्देश पाया जाता था, विद्यार्थियों के प्रति उनका जितना अनुराग था, विद्यार्थियों का भी उनके प्रति उससे कम अनुराग नही था। सन् १६१६ के मध्य में जब प्रबन्धकारिणी समिति के अधिकारी और पंडित जी के बीच में लम्बा झगड़ा हुआ था, तब विद्यार्थियों ने उनका खूब साथ दिया था, किन्तु इस घटना के कुछ ही समय बाद, समय ने पल्टा खाया और विद्यार्थी-मंडल उनसे इतना नाराज हो गया कि उनके व्यवहार से दुखी होकर उन्हें काशी छोड़नी पड़ी।

पं० उमरावसिंह विद्यार्थियो के सच्चे हितैषी थे, इसमें कोई शक नहीं। आजकल के अभिभावकों में जिस बात की कमी पाई जाती है वह उनमें कूट-कूट कर भरी थी। विद्यार्थियों के आचरण पर उनकी कड़ी निगाह रहती थी। रात्रि में वे स्वयं छात्राश्रम का चक्कर लगाते थे। इतना ही नहीं इस कार्य के लिये गुप्त रूप से उन्होंने कुछ विद्यार्थी भी नियुक्त कर रखे थे जो समय-समय पर उन्हें ऐसी सूचनायें देते थे। उनकी इस सतर्क दृष्टि और कार्यप्रणाली ने विद्यार्थियों में असन्तोष का भाव उत्पन्न कर दिया था। नीतिकारों का मत है कि 'सोलहवें वर्ष में पदार्पण करते ही पुत्र के साथ मित्र का-सा व्यवहार करना चाहिए।' पं० उमरावसिंह जी ने इस नीति की सर्वथा उपेक्षा की—छोटे और बड़े के भेद को भुला कर उन्होंने सब के साथ एक-सा ही व्यवहार रखा। उनकी रीति उस डाक्टर

के सामान थी जो रोगी की नाड़ी देखे बिना ही उस पर औषधि का प्रयोग करता जाता है।

अष्टमी या पड़वा का दिन था। विद्यालय की छुट्टी थी। उस रोज पं० उमरावसिंह जी की ओर से एक सूचना इस आशय की प्रकाशित हुई कि आज दोपहर को सभा होगी, कोई विद्यार्थी शहर न जाय। न मालूम क्यों? इस सूचना ने आग में घी का काम किया। जगह-जगह विद्यार्थियों की गोष्टी होने लगी। कुछ विद्यार्थी सूचना की उपेक्षा करके बाजार भी चले गये। नियत समय पर सभा हुई। विद्यार्थियों ने अपने व्याख्यानों के द्वारा पण्डित जी पर खूब ही वाग्बाण चलाये। अन्त में दुखी मन और खिन्न वदन से प० जी ने भी कुछ कहा। सभा भंग हुई, प० जी ने विद्यालय छोड़ने का पक्का इरादा कर लिया। छात्रो ने सुना तो 'सन्न' रह गये। उन्हें इस दुष्परिणाम की आशा न थी। छात्रों की ओरसे कुछ प्रतिनिधि अनुनय विनय करने के लिए प० जी के पास गये, किन्तु सब व्यर्थ। उन्होंने कहा—"जिनकी सेवा के लिए मैं यहाँ रहता हूँ उन्हें जब मेरी सेवा ही स्वीकार नहीं तो मेरा रहना निष्फल है।"

प० उमरावसिंह जी अपने तथा अपने छोटे भाई के खर्च के लिए विद्यालय से केवल २१ रु० मासिक लेते थे। उक्त घटनाने उनके इस अवैतनिक समाज-सेवा के भाव को भी गहरा धक्का पहुँचाया। उन्होने संकल्प किया कि अब मैं पूरा वेतन लेकर ही समाज सेवा का कार्य करूँगा। मेरी समझ के अनुसार यह प० जी का नैतिक पतन था। विपत्तियाँ ही मनुष्यता की कसौटी हैं। विपत्ति में भी जो अपने विचारों पर दृढ़ रहता है, वही सच्चा मनुष्य है। अस्तु, उन्होंने स्याद्वाद-विद्यालय से अपना पुराना नाता तोड़ दिया और ७०) रु० मासिक पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक होकर चौरासी—मथुरा चले गये। उन्हें मथुरा में कार्य करते हुये अभी कुछ ही मास बीते थे कि उनके सप्तम प्रतिमा धारण करने का समाचार मैंने पत्रों में पढ़े। लोगों ने देखा कि पं० उमराव-

सिंह जी अपने योग्य वेष 'सप्तम प्रतिमा' और सार्थक नाम 'ज्ञानानन्द' को धारण करके दूने उत्साह से कार्यक्षेत्र में उतरे हैं।

सप्तम प्रतिमा उनका योग्य वेष कैसे था ? इस प्रश्न के समाधान के लिए उनके प्रारम्भिक जीवन की एक घटना उल्लेख करना आवश्यक है, जो पाठ पढ़ाते समय उन्होंने एक बार स्वयं बतलाई थी। १६ वर्ष की अवस्था में उनकी सहधर्मिणी का शरीरान्त हो गया। घर वालोंने दूसरा विवाह करना चाहा तो छिपकर काशी या मोरेना विद्याध्ययन के लिए जा पहुँचे और शायद फिर घर नहीं गये। यह तो हुई उनकी स्त्री-विरक्ति की बात, अब सादगी का भी हाल सुन लीजिए। उनके कोट के बटन खो गये थे या टूट गये थे। वे बाजार से नये बटन खरीद कर लाये थे। बटन फैशनेबुल तो न थे, पर थोड़े चमकदार अवश्य थे। किसी ने अचानक टोक दिया 'पं० जी' बटन तो बढ़िया लाये हो।' पण्डित जी ने उसी समय उन बटनों का परित्याग कर दिया। अपने फैशनेबुल रंग-ढग के कारण एक बार इन पङ्क्तियों के लेखक को भी उनका कोपभाजन बनना पडा था। मेरे स्नेही पिता जी ने मुझे एक बढ़िया विलायती डोरिया का कुर्ता सिला दिया था। वह कम्बख्त कुर्ता एक दिन मैला हो गया और उसे धोबी का मेहमान बनना पड़ा। धोबी कुर्ता तो धोकर ले आया। किन्तु धुलाई में झगड़ा करने लगा। बात पण्डित जी के कानों तक पहुँचो या कम्बख्ती का मारा मैं ही ले गया। कुर्त्ते को देखते ही भडक उठे और बोले "ऐसा बढिया कुर्ता क्यों सिलाकर लाया है ?" जान बचाना मुश्किल हो गया। ऐसे सादगी-पसन्द और स्त्री विरक्त के लिए 'संयम सोपान' नहीं है तो क्या 'नार मुई घर सम्पति नासी' वालों के लिये है ?

ज्ञानानन्द ! सचमुच वे कार्यतः ज्ञानानन्द थे। रात-दिन ज्ञानाभ्यास करते रहते थे। उनके रात्रि में अध्ययन करने से मुझे बड़ी चिढ़ थी। बात यह थी कि उन दिनों मुझे खूब नींद आती थी और इस लिए जो खूब सोते थे तथा मुझे सोने में सहायता

देते थे, वे मेरे अत्यन्त स्नेह-भाजन थे, किन्तु जो न स्वयं सोते थे और न दूसरों को सोने देते थे, जैसे कि पण्डित उमरावसिंह, वे मेरे आन्तरिक कोप के ही नहीं, बल्कि घृणा के भी पात्र थे। रात्रि में जब कभी मेरी नींद खुल जाती और मैं उन्हें पढ़ते हुए देखता तो मुझे उनकी इस बेवक़ूफ़ी पर हँसी आये बिना न रहती। मैं सोचता—"यह कितने बेवक़ूफ़ हैं जो इतना पढ़-लिखकर भी इस सुहावनी रात में, जो केवल सोने के लिए ही बनाई गई है, पुस्तकों में शिर खपाते हैं। जब मैं इतना पढ़ जाऊँगा तो सोने के सिवाय दूसरे काम को हाथ भी न लगाऊँगा।" मैं और भी सोचता—"अमीर-उमराव तो लम्बी तान कर सोते हैं। यह कैसे उमराव हैं जो रातों जगते हैं?' उनके 'उमरावसिंह' नाम के प्रति मेरे शयन-प्रिय बालहृदय में जो विद्रोह उत्पन्न हो गया था, वह तब शान्त हुआ, जब हमारे उदासीन प० जी ने अपने वेष के साथ ही साथ नाम भी बदल डाला और ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द के नाम से ख्यात हुये।

उन दिनों भारतवर्षीय दि० जैन महासभा के आश्रित मथुरा महाविद्यालय की आन्तरिक दशा बहुत शोचनीय थी। कई वर्ष योग्य अभिभावक निरीक्षक के अभाव से गृह-कलह ने अपने पैर जमा लिये थे। अध्यापकों को समय पर वेतन भी न मिलता था। उमरावसिंह जी जब ब्रह्मचारी हुए थे, उनका कई मास का वेतन विद्यालय पर अवशेष था। मथुरा की समाज और महासभा के अधिकारी दोनों ही उस ओर से उदासीन हो गये थे। ब्र० ज्ञानानन्द जी ने अपने अध्यापन-काल में इस परिस्थिति को हृदयगम किया। उन्हें यह लगा कि अब इस स्थान में यह विद्यालय न चल सकेगा। यदि इसका जलवायु बदल दिया जाय तो शायद यह मृत्यु के मुख से बच जाय। ब्रह्मचारी होते ही उन्होंने अपना ध्यान उस ओर दिया। ब्यावर के स्वर्गीय सेठ चम्पालाल जी रानीवालों ने कुछ आश्वासन दिया। डूबते हुए को तिनके का सहारा मिला, ब्रह्मचारी जी बाबा छोटेलाल जी भरतपुर के सहयोग से विद्यालय को चौरासी (मथुरा) से ब्यावर ले गये। मथुरा वालों ने बहुतेरी 'हाय-तोबा' की,

महासभा के अधिकारियों का भी आसन डोल उठा, किन्तु कर्तव्यशील ब्र० जी के सामने किसी की भी न चली।

ब्यावर में रानी वालों के वंश ने विद्यालय को अपनी नशिया जी में स्थान दिया और धीरे-धीरे घाटे का कुल भार अपने ऊपर ले लिया।

मथुरा विद्यालय का सुप्रबन्ध करने के बाद ब्र० जी की दृष्टि श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर की ओर गई। उन दिनों ब्रह्मचर्याश्रम अपने शैशव-काल को समाप्त करके युवावस्था में प्रवेश करने की तैयारी कर रहा था, किन्तु आश्रम के संस्थापक, संचालक, पोषक और रक्षक धीरे-धीरे एक-एक करके गृहकलह और मतभेद के शिकार बन चुके थे। समाज का लाखों रुपया आश्रम के पोषण में खर्च हो चुका था। गुरुकुल कांगड़ी के जिस मनोहर आदर्श पर आश्रम की स्थापना की गई थी, उसी उन्नत आदर्श पर मोहित होकर, उत्तर प्रान्त की समाज ने अपनी पूर्ण शक्ति से आश्रम के पौदे को सींचा था। समाज में आश्रम का शोर मचा, लोग अकलंक और निकलंक के समान ब्रह्मचारी युवकों को देखने के लिये तरस रहे थे, किन्तु—

'बहुत शोर सुनते थे पहलू मे दिल का,
जो चीरा तो एक क़तरये ख़ूँ न निकला।'

समाज की आशाओं पर पानी फिर गया, टकटकी बाँध कर देखने वालों ने अपनी आँखें फेर लीं, धनिकों ने अपनी थैली के मुँह बन्द कर दिये, आरम्भ-शूर संचालकों ने अपना अपना रास्ता नापा। हस्तिनापुर के बीहड़ स्थान में सूखा बगीचा रह गया। हरे-भरे पौदों की खैर-खबर लेने वाले बहुत मिल जाते हैं, सूखी हुई डाल पर पक्षी भी बसेरा नहीं लेते, किन्तु जिनका काम ही है सूखों को हरा करना—हरे-भरों को सुखाना नहीं—वे पद-दलितों की खोज में रहते है।

ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी अपने स्वभाव के अनुसार आश्रम को हरा-भरा करने का उपाय सोचने लगे। मथुरा महाविद्यालय के लिए जिस औषधि की व्यवस्था की गई थी, अनुभवी ब्र० जी ने आश्रम के लिये

भी उसे ही उपयुक्त समझा और एक दिन समाज ने समाचार-पत्रों में आश्रम के स्थान-परिवर्तन के समाचार पढ़े। आश्रम हस्तिनापुर से उठकर जयपुर चला गया। किन्तु ब्यावर के रानीवालों की तरह वहाँ उसे कोई अभिभावक मिल न सका। ब्र० जी कुछ दिन तक अन्य सामाजिक कार्यों में व्यग्र रह कर बीमार पड़ गये। आश्रम ने ज्यों-त्यों करके कुछ वर्ष बिताये और ब्र० जी का देहावसान होने के बाद उसे जयपुर भी छोड़ना पड़ा। अब वह चौरासी (मथुरा) में अपना कालयापन कर रहा है।

मथुरा महाविद्यालय और आश्रम का पुनरुद्धार करने के बाद ब्र० जी की दृष्टि अपने पुराने कार्यक्षेत्र बनारस की ओर आकर्षित हुई और सन् १९२० के चैत्रमास में मैंने अपने साथियों के साथ पं० उमरावसिंह जी को ब्र० ज्ञानानन्द जी के नवीन संस्करण के रूप में पहली बार देखा। काशी संस्कृत-विद्या का पुरातन केन्द्र है। हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हो जाने से सर्वांगीण शिक्षा का केन्द्र बन गया है। न यहाँ विद्वानों की कमी है और न पुस्तकालयों की, ज्ञानार्जन और ज्ञानप्रचार के प्रेमियों के लिये इससे उत्तम स्थान भारतवर्ष में नहीं है। जो ज्ञानानन्दी जीव एक बार उसके वातावरण का अनुभव कर लेता है, उसकी गुजर-बसर, फिर अन्यत्र नहीं हो पाती। समाज के प्राय समस्त शिक्षालयों के वातावरण का अनुभव करने के बाद भी ब्र० जी अपने पूर्वस्थान बनारस को न भूल सके और कई शिक्षा-संस्थाओं के संचालन का भार स्वीकार करने पर भी उन्होंने परित्यक्त बनारस को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाना।

उन दिनों मध्यप्रदेश के रतौना गाँव में सरकार एक कसाईखाना खोलने का विचार कर रही थी, वहाँ प्रतिदिन कई हजार पशुओं के कत्ल करने का प्रबन्ध होने जा रहा था। इस बूचड़खाने को लेकर अखबारी दुनिया में खूब आन्दोलन हो रहा था। स्थान-स्थान पर सरकारी मन्तव्य के विरोध में सभा करके वायसरायके पास तार भेजे जाते थे। रक्षाबन्धन के दिन स्याद्वाद-विद्यालय में भी सभा हुई। बूचड़खाने के विरोध में

पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी का मर्मस्पर्शी भाषण हुआ। ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी ने बूचड़खाना स्थापित होने के विरोध में मीठे सेवन का त्याग किया और अहिंसा धर्म का संसार में प्रचार करने के लिए एक अहिंसा प्रचारिणी परिषद् स्थापित करने की योजना सुझाई।

मैं पहले बता चुका हूँ कि ज्ञानानन्द जी किसी आवश्यक विचार को 'काल करै सो आज कर, आज करै सो अब' सिद्धान्त के पक्के अनुयायी थे। अहिंसा-प्रचार की प्रस्तावित योजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने कलकत्ते की यात्रा की और दशलाक्षणी पर्व वहीं बिताया। कलकत्ते की दानी समाज ने उनका खूब सम्मान किया और ८००० रुपये के लगभग अहिंसा प्रचार के लिये भेंट किये। कलकत्ते से लौटते ही ब्र० जी अपने काम में जुट गये। अखिल भारतीय अहिंसा प्रचारिणी परिषद् की स्थापना की गई और काशी नागरी प्रचारिणी समिति के भवन में डा० भगवानदास जी के सभापतित्व में उसका प्रथम अधिवेशन खूब धूमधाम से मनाया गया। जनता में परिषद के मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए 'अहिंसा' नाम की साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित की गई। उपदेशक भी घुमाये गये, अजैन जनता ने भी परिषद के कार्य में अच्छा हाथ बँटाया। अनेक रजवाड़ों ने भी सहानुभूति प्रदर्शित की। बहुत से अजैन रईस एक-मुश्त सौ-सौ रु० देकर परिषद् के आजीवन सदस्य बने।

प्रारम्भ में अहिंसा का प्रकाशन एक दूसरे प्रेस से हुआ था। पीछे एक स्वतन्त्र प्रेस खरीद लिया गया जो अहिंसा प्रेस के नाम से विख्यात हुआ। प्राय. अधिकाश मनुष्य आत्म-प्रशसा को जितनी चाह से सुनते हैं, खरी आलोचना को उतनी ही घृणा से देखते हैं, किन्तु ब्र० ज्ञानानन्द जी में यह बात न थी, वे अपनी आलोचना को भी बहुत सहानुभूति के साथ सुनते थे। एक बार कुछ ऐसी ही घटना घटी। ब्र० जी ने अहिंसा परिषद् के लिए कुछ लिफाफे और लेटर पेपर छपाये थे, जो बढ़िया थे। हमारी विद्यार्थी-मण्डली ने ब्र० जी के इस कार्य को समाज के रु० का दुरुपयोग

बतलाया था। यह बात ब्र० जी के कानों तक पहुँची। अवसर देख कर एक दिन रात्रि के समय हमारी मण्डली के मुखिया लोगों के सामने उन्होंने स्वयं आलोचना की चर्चा उठाई। उस समय का उनका प्रसन्न मुख आज भुलाने पर भी नहीं भूलता। बोले 'मुझे प्रसन्नता है कि तुम लोग मेरे कार्यों की भी आलोचना करते हो। मैंने बढ़िया कागजों की छपाई में व्यय अपना शौक पूरा करने के लिए नहीं किया, किन्तु जमाने की रफ्तार को देखते हुए राजा-रईसों के लिये किया है। हम लोग उनका उत्तर सुन कर कुछ सकुचा-से गये, किन्तु फिर कभी उस विषय पर आलोचना नहीं हुई।

जिन दिनों 'अहिंसा' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, उन दिनों भारत के राजनीतिक आकाश में गाँधी की आँधी का जोर बढ़ता जाता था। असहयोग आन्दोलन ने भारतीयों में पारस्परिक सहयोग का भाव उत्पन्न करके विदेशी शासन-प्रणाली को विचलित कर दिया था। अदालतों, कौंसिलों, सरकारी स्कूलों का बायकाट प्रतिदिन ज़ोर पकड़ता जाता था। मशीनगनों की वर्षा के मुकाबले पर भारत के राष्ट्रपत्र वाग्बाणों की वर्षा कर रहे थे। घमासान युद्ध मचा हुआ था, किन्तु दुश्मन को मारने के लिये नहीं, स्वयं मरने के लिये। रक्त लेने के लिये नहीं, रक्त देने के लिये। क्यों कि अहिंसात्मक युद्ध मारना नहीं सिखाता है।

"जिसे मरना नहीं आया उसे जीना नहीं आता"।

इस परिस्थिति में जन्म लेकर और राष्ट्र का तत्कालीन अस्त्र 'अहिंसा' का नाम धारण कर 'अहिंसा' राष्ट्र की आवाज में आवाज मिलने से कैसे पीछे रह सकता था, किन्तु उसकी आवाज़ राष्ट्र की आवाज़ की प्रतिध्वनि मात्र थी, उसने राष्ट्रीय पत्रों की बात को दोहराया बेशक, किन्तु कोई 'अपनी बात' न कही। इस कारण जो कुछ भी रहा हो, परन्तु ब्र० ज्ञानानन्द जी के राष्ट्र-प्रेमी होने में कोई सन्देह नहीं है। वे पक्के धर्मात्मा होने पर भी जननी-जन्मभूमि की व्यथा को भूले नहीं थे,

राष्ट्र की प्रत्येक प्रगति पर उनकी बड़ी दृष्टि रहती थी और उस पर वे विचार भी करते थे।

उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि प्रेस के कार्य में अपने कुछ 'शिष्यों' को दक्ष कर दिया जाय और एक विशाल 'छापेखाने' का आयोजन किया जाय। इस लिये वे प्रतिदिन किसी न किसी छात्र को अपने साथ प्रेस में ले जाते थे। एक दिन मुझे भी ले गये और 'अहिंसा' के प्रूफ, संशोधन का कार्य मुझे सौंप कर विश्राम करने लगे। 'प्रूफ' में किसी राष्ट्रीय पत्र की प्रतिध्वनि थी—यदि मैं भूलता नहीं तो वह एक प्रहसन था, और शायद 'कर्मवीर' से नक़ल किया गया था। भारत के राजनैतिक मंच के सूत्रधार महात्मा गाँधी और अलीबन्धु 'प्रहसन' के पात्र थे। 'प्रूफ' में उक्त प्रहसन अधूरा था और मैं उसके आदि अन्तसे अपरिचित था। प्रूफ पर दृष्टि पड़ते ही मुझे "मौलाना" गाँधी दिखाई दिये। मैं चकराया। आगे बढ़ा तो "महात्मा" शौकत अली पर नज़र पड़ी। अब मैंने 'गाँधी अली' सवाद पर दृष्टि डाली तो सब जगह एक-सी ही बेवकूफी देखी। सम्पूर्ण सवाद में गांधी के साथ "मौलाना" और शौकत अली के साथ 'महात्मा' शब्द का प्रयोग देखकर मेरा 'टेम्परेचर' भड़क उठा और मुझे प्रेस के भूतों की बेअकली पर हँसी आगई। आव देखा न ताव, कलम-कुठार उठा कर 'मौलाना' और 'महात्मा' दोनों का शिरच्छेद कर डाला और नई रीति से गाँधी के साथ महात्मा और शौकतअली के साथ 'मौलाना' शब्द जोड़ डाला। इस कार्य में एक घन्टे के लगभग लग गया। अब मैं प्रेस के भूतो की बेवकूफी और अपनी बुद्धिमानी का सुसंवाद कहने के लिये ब्र० जी की निद्रा भंग होने की प्रतीक्षा करने लगा। उनके उठते ही मैंने प्रूफ उनके सामने रक्खा। अभी मैं कुछ कहने भी न पाया था कि ब्र० जी के श्रीमुख से मैंने अपने लिये वे शब्द सुने, जो कुछ देर पहले अपने दिल ही दिल मे प्रेस के भूतों को कह चुका था। ब्र० जी की इस "नाशुक्री' पर मुझे बड़ा खेद हुआ, किन्तु जब मुझे मालूम हुआ कि 'प्रहसन' में हिन्दु-मुस्लिम एकता का 'प्रहसन' किया गया है तो मेरे

देवता कूँच कर गये, और मैं प्रेस से 'एक दो तीन' हो गया। 'अहिंसा परिषद्' और शिक्षा संस्थाओं के संचालन मे ब्र० जी इतने तल्लीन हुए कि शारीरिक स्वास्थ्य की ओर से एकदम उदासीन हो गये। कभी २ बुखार आ जाने पर भी दैनिक कार्य करना नहीं छोड़ा। जब रोग बढ़ गया तो चिकित्सा के लिये बनारस से बाहर चले गये। ज्वर ने जीर्ण ज्वर का रूप धारण कर लिया, खाँसी भी हो गई। यक्ष्मा के लक्षण प्रकट होने लगे। फिर भी सामाजिक कार्यो मे भाग लेना न छोडा। फरवरी १९२३ में देहली में जो पंच कल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ था, ब्यावर विद्यालय के छात्रो के साथ उसमें वे सम्मिलित हुए थे और सेठ के कूँचे की धर्म-शाला मे ठहरे थे। मैं अपने सहयोगियो के साथ उनसे मिलने गया। उस समय उन्हें ज्वर चढ़ रहा था और खाँसी भी परेशान कर रही थी। हम लोगो की आहट पाते ही उठकर बैठ गये और उसी स्वाभाविक मुस्कान के साथ हम लोगों से मिले। किसे खबर थी कि यह अन्तिम दर्शन हैं। अफ़सोस !!! उसी वर्ष ग्रीष्मावकाश के समय अपने घर पर एक मित्र के पत्र से मुझे ज्ञात हुआ कि ब्र० ज्ञानानन्द जी का देहावसान हो गया। पढ़ कर मै स्तम्भित रह गया। रगों मे रहने वाला खून जमने-सा लगा, मस्तक गर्म हो गया। अन्त मे अपने को समझाया और उनकी सत् शिक्षा, सद्व्यवहार और कर्त्तव्यशीलता का स्मरण करके, स्वर्गगत हितैषी के लिए श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

मनुष्य जब तक जीवित रहता है, तब तक उसके अत्यन्त निकट रहने वाले व्यक्ति भी उसका महत्त्व समझने की कोशिश नहीं करते। मेरी भी यह दशा हुई, मैंने ब्र० जी की सत् शिक्षाओ को सर्वदा उपेक्षा की दृष्टि से देखा। आज जब वे नहीं है और पद-पद पर उनके ही सदुपदेशों का अनुसरण करना पडता है, तब अपनी अज्ञानता पर अत्यन्त पश्चात्ताप होता है।

—जैन दर्शन, १९४३

उनका वरदान

[श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

'यह कौन लड़का है ?'

'जी, मैं हूँ।'

'यह पत्र (जैन हितैषी मासिक पत्र) उठा कर कहाँ ले जा रहा है ?'

'जी, यह अकलंक शारदा सदन (विद्यार्थियों की लायब्रेरी) में आता है और मैं उसका मन्त्री हूँ इसलिये इसे लिये जा रहा हूँ।'

'चुप रहो, असत्य बोलते हुए भी लज्जा नहीं आती। अभी-अभी पढ़ने के लिये मैं इसे बक्स में से निकाल कर रखने भी न पाया कि हजरत उचका कर चलते बने।'

'मैंने समझा कि आज की डाक से यह पत्र पुस्तकालय के नाम आया है और आपने भूल से खोल लिया है। इसी ख्याल से लेकर चल दिया था। क्योंकि पुस्तकालय की सभी डाक यहाँ आती है और वह सब डाक मैं स्वयं यहाँ आकर ले जाता हूँ।'

'जी, यह तो मैंने सुना था कि इस विद्यालय के छात्र चोर और शैतान हैं, मगर झूठे और मुंहजोर भी हैं यह मालूम नहीं था।'

'आपका है तो यह लीजिए, मगर 'मैं ‥ ।' आगे बात मुँह से न निकली, गला रुक गया और मैं खिसयाना-सा चुपचाप अपने रूम में चला गया। जी हां, रूम में ? क्योंकि उन दिनों हम लोग कमरे को

रूम, पेशाब को लघुशंका, चून को आटा और नौन को लवण कहा करते थे। यह सन् १९१८ की उन दिनों की बात है, जब मैं चौरासी (मथुरा) में महासभा के महाविद्यालय में पढ़ता कम और खाता-खेलता अधिक था। उन दिनों महासभा और महाविद्यालय के महामन्त्री स्वर्गीय सेठ जम्बू-प्रसाद जी सहारनपुर वाले थे।

हाँ, तो यह झडप प० उमरावसिंह जी न्यायतीर्थ से हुई, जो स्याद्वाद विद्यालय काशी से त्यागपत्र देकर यहाँ प्रधानाध्यापक हो कर उसी रोज आये थे और विद्यालय के दफ्तर में ही ठहरे हुए थे। विद्यार्थियों और पुस्तकालय आदि की सभी डाक दफ्तर में रखी रहती थी और यहीं से सब अपनी-अपनी डाक ले जाते थे। मैं हस्बमामूल रोजाना की तरह गया और पण्डित जी वाला अखबार पुस्तकालय का समझ कर उठा कर चल दिया, इसी तनिक-सी बात पर पण्डित जी बिगड़ गये।

रूम में आकर मुँह लपेट कर चारपाई पर पड़ गया। सोचा, शकुन तो अच्छा नहीं हुआ। गुरुदेव से परिचय भी हुआ तो किसी बुरी सायत में, मेरे सम्बन्ध में न जाने कैसी धारणा उनके मन में बैठ जायेगी? और इन लक्खनों से गुरु-शिष्य की क्या खाक पटरी बैठेगी? यह तो अच्छे खासे शक्की और बिगडैल मालूम होते हैं। तब जो इतनी प्रशंसा सुनी थी, वह क्या ढोल मे पोल ही रही। दो-तीन आने के अखबार पर जब यह हाल है तो आगे तो भगवान ही खैर करें। तब क्या इन्हें भी औरो की तरह बोरिया-बिस्तर बाध कर जाना पड़ेगा! आसार तो कुछ ऐसे ही नजर आते हैं। जब मेरे ही साथ इनका ऐसा बर्ताव है—जो इनकी नियुक्ति की बात सुन कर फूला नही समाया था और आने की बाट बड़ी उत्सुकता से जोह रहा था और विद्यालय की कुव्यवस्था के दूर होने के अनेक कल्पित चित्र अपने मस्तिष्क में बना चुका था—तब उन लड़को के साथ पटरी कैसे बैठेगी जो इनकी नियुक्ति से प्रसन्न नहीं हैं।

क्लास में पढ़ाने आते तो किसी न किसी पाठ पर चोरी, झूठ, माया-चारी आदि को लेकर व्याख्यान झाड़ने लगते और वह सब मुझ को लक्ष्य

करके। मैं मन ही मन में आकुल हो उठता, शर्म से गड़-सा जाता, क्यों उन्हें दया नहीं आती। शुक्र इतना ही था कि सहपाठियों को यह आभास न हो सका कि गुरुजी का लक्ष्य इस गरीब की ओर है। वे इसे गुरुजी की एक आदत-सी समझने लगे। यह सब मुझे लक्ष्य करके नित नया उपदेश दिया जाता है इसका आभास होना भी असम्भव था। क्योंकि ज्ञान की न्यूनता मुझ में रही हो, पर श्रद्धा तथा चारित्र तो आयु के हिसाब से उन दिनों आवश्यकता से अधिक ही प्रतीत होते थे।

दिन मे तीन बार सामायिक, अष्टमी चतुर्दशी को एकाशना, २०-२५ पृष्ठ स्वाध्याय, प्राय. दैनिक पूजन, मौन भोजन करना, लेश मात्र भी झूठा न छोड़ना एक आदत-सी बन गई थी। चोरी आदि की कुटेव कभी थी ही नहीं। सहपाठियो से भी बहुत स्नेहपूर्ण और मधुर सम्बन्ध थे। क्लास में सर्वश्रेष्ठ नहीं तो घटियल भी नहीं था। ऐसी स्थिति में गुरु जी का लक्ष्य मेरी ही ओर है, यह कोई कैसे ताड़ सकता था। पर मेरी स्थिति बड़ी दयनीय थी। हर वक्त भय लगा रहता था कि सहपाठियों को जिस दिन पता चला कि सब घृणा करने लगेंगे। विद्यालय में यों कब तक रहना हो सकेगा। घर वाले भी क्या कहेंगे?

धीरे-धीरे गुरु जी मुझ से अपना व्यक्तिगत कार्य कराने लगे। कभी अपने कमरे में से पुस्तक मंगवाते, कभी सन्दूक से कपड़ा निकलवाते और रुपये उनके इधर-उधर पड़े रहते। जान-जान कर ऐसा कार्य बतलाते कि रुपये मेरी आंखों से निकल जायें। मैं कुछ भी इस तथ्य को न समझता और अत्यन्त श्रद्धाभाव से उनके आदेश का पालन करता। पूरी लगन से मैं उनकी सेवा के लिये तत्पर रहता। शनैः-शनैः उनका विश्वास और स्नेह इतना पा लिया कि वे मुझे पुत्रवत् प्रेम करने लगे।

वे मेरठ जिले के रहने वाले थे। पण्डित गोपालदास जी बरैया के सुयोग्य और स्नेहपात्र शिष्य थे। उनका अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिभाव से बखान किया करते थे। उनकी सौम्य मुखाकृति पर धवल वस्त्र खूब खिलते थे। चूड़ीदार पायजामे पर अचकन और

गोखेदार गुलाबी पगडी देखते ही बनती थी। सरल और सादे स्वभाव के थे। सयम, सन्तोष और सौजन्य की मूर्ति थे। उन्हें किसी दल से सरोकार न था। जैनधर्म के प्रति श्रद्धा उनके रोम-रोम में थी। प्रवचन करते-करते विदेह-से होने लगते थे और जब सम्हलते तो गीले-गीले से मालूम होते थे। एक बार सामायिक मे ऐसे लीन हुए कि कई फर्लांग सुनाई देने वाली विद्यार्थियो की प्रातःकालीन प्रार्थना तक का आभास न हुआ। व्यक्तित्व उनका आकर्षक और प्रभावशाली था। दिन मे केवल एक बार भोजन करते थे और सन्ध्या को अक्सर गन्ना चूस कर रह जाते थे। उन्हीं से मालूम हुआ कि पहिले वे काफी खाते थे, पर पूज्य बाबा भागीरथ दास वर्णी के उपदेश से प्रभावित होकर सयमी जीवन रख सकने मे समर्थ हो सके थे। उनकी पहली शादी करने मे किसी तरह घर वाले कामयाब हो गये थे। विवाह के थोड़े ही दिन बाद पत्नी मरी तो फिर विवाह को राजी न हुये। घर वालो ने एक दफा घेर भी लिया मगर वे ऐन मौके पर भाग निकले। बड़े दयालु स्वभाव के थे, तनिक-सी ठेस से दुखित हो उठते थे।

मेरी नन्दसाल (कोसी), चौरासी से २४ मील दूर थी। मामाजी का अपना रईसी इक्का था। उसी पर १५-२० रोज में कभी मामा, मामी कभी माँ और नानी मुझे देखने आया करते थे और नाश्ता वगैरह दे जाते थे। गुरु जी तब नये-नये आये थे। इन्होने कभी उन्हें देखा न था। तभी एक रोज माँ और नाना इक्के पर आईं। लेकिन इक्के को उसी रोज फिर २४ मील वापिस जाना था। इसलिये नानी, माँ बाहर सडक पर ही इक्का वापिस करके सर पर ही गठरी उठरी रखे मेरे रूम की तरफ उतावली से बढी चा रही थी कि गुरु जी ने देख लिया। दर्याफ्त करने पर मालूम हुआ कि अजुध्या की माँ और नानी है तो मुझे बुलाया और बक्से में से रुपये निकाल लेने को कहा। पहले तो मैं कुछ समझ न सका; फिर समझने पर मैंने वास्तविक बात बताई तो भरे हुये गले से बोले—'बेटे! मैं भी कैसा मूर्ख हूँ, उनको नगे पाँव सामान लिये इस

तरह जाते देख मेरा जी भर आया कि बेचारी कितनी ग़रीब हैं कि किराये को भी पास पैसा नहीं है। तुम भी अपने मन में क्या सोचते होगे।'

गुरु जी के इस सद्व्यवहार का मेरे जीवन मे काफ़ी प्रभाव पड़ा।

सन् १९१९ के लगभग विद्यार्थियों की ओर से हस्तलिखित-अर्ध-साप्ताहिक 'ज्ञानवर्द्धक' पत्र निकाला गया। इसे भाई सुन्दरलाल जी (जो दमोह में आजकल अपना औषधालय चलाते है) सुन्दर अक्षरों में लिखते थे, मैं और मथुरादास जी (बी० ए०, न्यायतीर्थ) सम्पादन करते थे। इस पत्र मे विद्यालय की अव्यवस्था तथा सामाजिक, राजनैतिक टिप्पणियाँ भी रहती थीं। इसी पत्र में विद्यालय के तत्कालीन अधिष्ठाता की निरकुशता, विद्यार्थियो के सत्याग्रह तथा प० अर्जुनलाल जी सेठी पर लगाई गई पाबन्दियों पर तीव्र टीकायें की गई थीं।

'ज्ञानवर्द्धक' को गुरु जी अवश्य देखते थे। एक रोज़ बुलाया और बोले—'बेटा! तू अपनी ज़िद से बाज़ नहीं आयेगा।' मैं कुछ भी न समझ सका, सकपकाकर चुपचाप खडा रहा। वे ही बोले—

"हम ज्ञानवर्द्धक के लेखों और सभा आदि की कार्यवाहीसे अत्यन्त प्रसन्न हैं। हम नहीं चाहते थे कि अपनी प्रसन्नता तुझ पर प्रकट करें, परन्तु तैंने उसे प्रकट करा ही लिया! तू इनाम लिये बग़ैर न मानेगा। अच्छा बोल क्या इनाम लेना चाहता है?"

मैंने चट झुक कर उनके चरण छुये तो गद्गद् कठ से बोले—"तू अब विद्यालय मे अपना जीवन नष्ट मत कर! जा तुझे लिखने और बोलने का वरदान दिया।"

मैंने यह आशीर्वाद सुना तो फिर झुक कर पग-धूल ली और सब कुछ पाकर अपने कमरे में जा बैठा। इस निधि-प्राप्ति की बात कजूस की तरह अब तक छिपाये रहा हूँ।

मैं स्वयं अपने अहकार और प्रमाद के कारण गुरु जी के वरदान का मूल्य नहीं समझ पाया। यदि प्रयत्न करता रहता तो गुरु जी का वरदान मेरे लिये कल्पवृक्ष सिद्ध हुआ होता। फिर भी आज तक जो कुछ समाज

सेवा, भाषण या लेखों से कर पाया हूँ, यह सब गुरुजी की देन है, इसके लिये मेरा रोम-रोम उनका ऋणी है।

उसी वर्ष (अप्रैल १९१९ में) अनायास विद्यालय छोड़ने का अवसर भी आ गया। रौलट ऐक्ट के विरोध-स्वरूप महात्मा गाँधी के आदेश से समस्त भारत में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। हम लोगो ने व्रत रखा। विद्यालय न जाकर सभा का आयोजन किया। उसमें प्रमुख विद्यार्थियो के गरमा-गरम भाषण हुये और शाम को मथुरा की बृहत् सभा में सम्मिलित हुये। इन सभी कार्यों मे समस्त छात्र सम्मिलित हुये। विद्यार्थियों का यह सगठन, अधिकारी वर्ग को रुचिकर नहीं हुआ। इधर हम लोग विद्यालय की अव्यवस्था से काफी परेशान रहते थे। ४-६ माह से केवल अरहर की दाल से दोनो वक्त रूखी रोटियाँ खाते-खाते मतली-सी आने लगी थी। उस वक्त के अधिष्ठाता की निरकुशता और अकर्मण्यता का यह हाल था कि विद्यार्थी तो विद्यार्थी अध्यापकवर्ग तक परेशान थे। उधर गुरु जी, विद्यालय छोड कर, ब्रह्मचारी हो गये थे।

अब विद्यालय में अध्ययन का कोई आकर्षण नही रह गया था। अत. हम लोग गर्मियों की छुट्टियो में वहा से मुक्त हुये तो फिर जाने का नाम नहीं लिया और वह विद्यालय फिर चौरासी से गुरु जी जयपुर पहुँचा आये।

गुरु जी दीक्षा लेकर काशी से अहिंसा प्रचार करने लगे इधर मै सन् २० में दिल्ली चला आया, तभी आप दिल्ली किसी कार्य वश पधारे और मुझे 'अहिंसा' पत्र मे कार्य करने के लिए काफी उत्साहित किया, परन्तु भूआ जी ने स्वीकृति नहीं दी और अनेक अनुनय-विनय करके उन्होंने मुझे दिल्ली ही रहने की गुरु जी से स्वीकृति ले ली।

उन्होंने अल्प समय में ही अहिंसा सभा और पत्र द्वारा काफी कार्य किया। यदि उनका असमय में ही स्वर्गवास न हुआ होता तो वे भी समाज के लिए ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी सरीखे कर्मवीर सिद्ध हुए होते।

—वीर, १ मार्च १९५७

जयति जगति जिनशासनम् ।

भूमिका

साहित्य—सेवी, शिक्षित समुदाय इस बात को भली-भांति जानता है कि संसार के समस्त रसों में शान्ति-रस सबसे ऊँचे दर्जे का है। क्रोधादि कषायों के प्रचण्ड सन्ताप से जब किसी की आत्मा तप्त हो जाया करती है तब बड़ी २ नदियों की निर्मल धारायें, शीतल चन्दन, चन्द्रमा, खस, केवड़े और मलयगिरि की प्रातःकालीन शिशिर सुगन्धित निर्मल अनिल आदिक सब मिल कर भी उस सन्ताप को दूर करने में समर्थ नहीं होते। उस सन्ताप को नष्ट करने की शक्ति यदि किसी में होती है, तो वह केवल संसार के स्वभाव को जानने वाले सरल चित्त सज्जनों के सुधा-स्रावी उपदेश में होती है। इसी एक रामबाण औषधि के सेवन से यह क्रोधादि कषाय का भयंकर हार्दिक रोग शान्त हो सकता है। प्रबल-से-प्रबल प्रतापी योद्धा बड़ी बड़ी तोप, तलवार और मशीनगनों का भय दिखा कर भी जिस मस्तक को रंचमात्र नीचा नहीं कर सकते, उसी उन्नत मस्तक को महर्षि पुरुष, प्रशम पीयूष-पोषक एक-दो वाक्य सुना कर चरणों में झुका लिया करते हैं। इस प्रकार संसार भरको वशमें करनेमें समर्थ और बिना प्रयत्न हमेशा पासमें रहने वाले शान्तिमय शस्त्र की महिमा में और अधिक कुछ न लिख कर प्रकृत पुस्तक शान्ति-सोपान के विषय में हम यह सूचित कर देना आवश्यक समझते हैं कि इस पुस्तक में जिन परमानन्दस्तोत्र, श्री अकलंकदेव

विरचित स्वरूपसम्बोधन, मृत्युमहोत्सव और श्रीपूज्यपाद स्वामी रचित समाधिशतक नामक ग्रन्थों का सरल अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है, ये चारों ही ग्रन्थ शान्ति-रस की पुष्टि करने मे एक-से-एक उत्तम हैं।

१. परमानन्द-स्तोत्र—

प्रथम ग्रन्थ परमानन्दस्तोत्रमे यद्यपि केवल २४ ही श्लोक है। किन्तु ये थोडे-से ही पद्य, जब सब तरफ से चित्त-वृत्ति को हटा कर मनन किये जाते हैं तब आत्मा में विचित्र आनन्द उत्पन्न कर देते हैं। इस स्तोत्र के रचयिता का नाम यद्यपि हमें मालूम नहीं हो सका, किन्तु इस बात को प्रकट किये बिना हम से नहीं रहा जाता कि जिन महानुभाव के द्वारा इस स्तोत्र की रचना हुई है उन्होंने केवल अपनी कृति से ही परमात्मपद की झलक दिखाने का कार्य कर दिया है।

२. स्वरूप-सम्बोधन—

दूसरा स्वरूप-सम्बोधन ग्रन्थ दि० जैन न्यायशास्त्रो के प्रसिद्ध कर्त्ता श्री अकलंक भट्टाचार्य का बनाया हुआ है। जिस प्रखर आचार्य ने न्याय-विनिश्चयालंकार[१] सरीखा अद्भुत ग्रंथ ३०,००० हजार श्लोको मे लिख कर समाप्त किया है और अष्टशती व राजवार्त्तिक सरीखे अनेक महत्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ रचकर अपनी अलौकिक विद्वत्ताका परिचय दिया है उन्हीं आचार्य महाराज ने इस छोटे-से युक्तिपूर्ण ग्रन्थ को केवल २५ श्लोकों में रचकर यथेष्ट भोजन कराने के बाद उत्तम पान का बीड़ा खिलाने सरीखा काम किया है। ग्रन्थकर्त्ता महानुभाव ने इस छोटे-से अध्यात्म-ग्रन्थ मे भी न्यायविषयक लेखनशैली की अद्भुत छटा दिखाये बिना नहीं छोड़ी।

---

१ अकलंकदेव ने 'न्यायविनिश्चय' बनाया है और उसकी टीका 'न्याय विनिश्चयालंकार' स्याद्वादविद्यापति आ० वादिराजने रची है।—द० ला०।

३. सामायिकपाठ —

तीसरा सामायिकपाठ केवल १२ श्लोकों में किसी महात्मा ने ऐसा सुन्दर बनाया है कि ध्यानपूर्वक पढ़ने से राग द्वेष की कालिमा का बोध करा देता है।

४. मृत्युमहोत्सव—

चौथे मृत्युमहोत्सव ग्रन्थ मे हमने १८ मूल श्लोकों के अतिरिक्त पूर्व में ७ श्लोक श्री रत्नकरडश्रावकाचारमे से भी सम्मिलित कर दिये हैं। दिन-रात मौत से डरते रहने वाले ससारी जीवो के लिए मृत्युमहोत्सव के २५ श्लोक बड़े काम की चीज हैं। इन श्लोको को ध्यानपूर्वक पढ़कर मनन करने से विवेकी पुरुषो को मृत्यु का भय वास्तव मे दूर हो सकता है।

५. समाधि-शतक—

पाँचवा समाधि-शतक ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि व जैनेन्द्रव्याकरण आदि के कर्त्ता श्री पूज्यपाद आचार्य के द्वारा १०५ श्लोकों में रचा गया है। इस अपूर्व ग्रन्थ के एक-एक अनुभवपूर्ण श्लोक द्वारा ग्रन्थकर्त्ता महाराज ने जिस प्रशम-पीयूष का पान कराया है उसका पता पाठकों को इस ग्रन्थ का मनन करने से ही लग सकता है। भयकर सासारिक दु खो के कूप में पड़े हुए जिस पुरुष को अपनी आत्मा के उद्धार की उत्कृष्ट इच्छा हो उसको दु ख-कूप से बाहर निकलने के वास्ते रज्जु (रस्सी) का काम देने के लिये यह ग्रन्थ नि.सन्देह समर्थ समझना चाहिये। तथा ससार के समस्त दु खों की असली जड़ का पता लगाना हो और उस जड को काट डालने की जिसकी इच्छा हो उसका कार्य इस ग्रन्थ के—

"मूलं संसार-दुःखस्य, देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥"

केवल इस श्लोक के अर्थ को मनन करके तदनुकूल क्रिया करने से चल जावेगा।

इस प्रकार इन पाँच छोटी-छोटी पुस्तकों को शान्त-रस की पोषक समझ कर भाषानुवाद करके शान्ति-सोपान के नाम से प्रकट किया है। यदि पाठक महाशयों को हमारा यह प्रयास पसन्द आवेगा तो आगामी और भी कोई पुस्तक अध्यात्मरसिक पाठकों की सेवा में अर्पित करने की चेष्टा की जावेगी।

अज्ञानवश यदि किसी श्लोक का भाव व्यक्त करने में त्रुटि रह गई हो तो पाठक महोदय उसे सूचित करें।

मिती श्रावण शुक्ला १५
वी० स० २४४८,
खजाची की नशियां, जयपुर।

प्रशम-पीयूष-पिपासु—
ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द।

पण्डितप्रवर श्रीभागचन्द्रजी विरचित

महावीराष्टक

[नित्य-प्रार्थना]

: १ :

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः
समं भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तोऽन्तरहिताः ।
जगत्साक्षी मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: २ :

अताम्रं यच्चक्षुःकमल-युगलं स्पन्द-रहितं
जनान् कोपाऽपायं प्रकटयति वाऽऽभ्यन्तरमपि ।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाऽतिविमला
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: ३ :

नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भाजाल-जटिलं
लसत्पादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनुभृताम् ।
भवज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: ४ :

यदर्चाभावेन प्रमुदित-मना दुर्दुर य इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुख-निधिः ।
लभन्ते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमु तदा
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: ५ :

कनत्स्वर्णा-भासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो
विचित्राऽऽत्माऽप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनयः ।
अजन्माऽपि श्रीमान् विगत-भव-रागोद्भुतगति-
र्महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: ६ :

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालैः परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: ७ :

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः
कुमारऽवस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः ।
स्फुरन्नित्याऽऽनन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिनः
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: ८ :

महा-मोहाऽऽतङ्क-प्रशमन-पराऽऽकस्मिक-भिषड्
निरापेक्षो बन्धुर्विदित-महिमा मङ्गलकरः ।
शरण्यः साधूनां भव-भय-भृतामुत्तमगुणो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ॥

: ९ :

महावीराऽष्टकं स्तोत्रं, भक्त्या भागेन्दुना कृतम् ।
यः पठेच्छ्रुणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥

स्मरणीय दो आध्यात्मिक पद

: १ :

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।
ज्यों शुक नभ-चाल विसरि, नलिनी लटकायौ ॥

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरश-बोध-मय विशुद्ध,
तजि, जड़ रस फरस रूप पुद्गल अपनायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥१॥

इन्द्रिय-सुख-दुख में नित्त, पाग राग-रुख में चित्त,
दायक भव-विपति-वृन्द, बन्ध को बढ़ायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायो ॥२॥

चाह-दाह दाहै त्यागौ न ताह चाहै,
समता-सुधा न गाहै, जिन-निकट जो बतायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥३॥
मानुष भव सुकुल पाय, जिनवर-शासन लहाय,
'दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ
ज्यों शुक नभ-चाल विसरि नयिनी लटकायौ ॥४॥

: २ :

अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन-कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों करि देह धरेंगे॥
उपजै-मरै कालतैं प्रानी, तातै काल हरेंगे।
राग-द्वेष जग-बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे॥
अब हम अमर भये न मरेंगे॥
देह विनाशी, मैं अविनाशी, भेदज्ञान पकरैंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हों निखरैंगे॥
अब हम अमर भये न मरैंगे॥
मरे अनन्त वार बिन समझैं, अब सब दुख विसरैंगे।
'द्यानत' निपट-निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरैंगे॥
अब हम अमर भये न मरेंगे॥

***

श्री परमानन्दाय नमः ।

शान्ति-सोपान

—:※:—

※ परमानन्द-स्तोत्र ※

परमानन्दसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यान-हीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥१॥

अर्थ—परमानन्द युक्त रागादिक विकारों से रहित, ज्वरादिक रोगों से मुक्त और निश्चय नय से अपने शरीर में ही विराजमान परमात्मा को ध्यानहीन पुरुष नहीं देख सकते ।

अनन्तसुख सम्पन्नं, ज्ञानामृत-पयोधरम् ।
अनन्तवीर्य-सम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥२॥

अर्थ—अनन्तसुख विशिष्ट, ज्ञानरूपी अमृत से भरे हुये समुद्र के समान और अनन्तबल युक्त परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिये ।

निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंग-विवर्जितम् ।
परमानन्द-सम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥३॥

अर्थ—रागादिक विकारों से रहित, अनेक प्रकार की सांसारिक बाधाओं से मुक्त, सम्पूर्ण परिग्रहों से शून्य, परमानन्द विशिष्ट शुद्ध केवलज्ञानरूप चैतन्य ही परमात्मा का लक्षण मानना चाहिये।

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा ॥४॥

अर्थ—अपनी आत्मा के उद्धार की चिन्ता करना उत्तम चिन्ता है, प्रकृष्टमोह अर्थात् शुभराग वश दूसरे जीवों के भले करने की चिन्ता करना मध्यम चिन्ता है, काम भोग की चिन्ता करना अधम चिन्ता है और दूसरों के अहित करने का विचार करना अधम से भी अधम चिन्ता है॥ ४॥

निर्विकल्प-समुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमञ्जुलिं कृत्वा तत्पिबन्ति तपस्विनः॥५॥

अर्थ—आत्मा के असली स्वरूप को बिगाड़ने वाले अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों को नाश करने से जो ज्ञानरूपी अमृत उत्पन्न होता है उसको तपस्वी महात्मा ही विवेक रूपी अञ्जलि से पीते हैं॥ ५॥

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्दकारणम् ॥६॥

अर्थ—जो पुरुष निश्चय नय से सदा ही आत्मा में रहने वाली परमानन्द दशा को जानता है वही वास्तव में पण्डित है और वही

पुरुष अपनी आत्मा को परमानन्द का कारण समझ कर वास्तव में उसकी सेवा करनी जानता है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥७॥

अर्थ—जैसे कमलपत्र के ऊपर पानी की बूँद कमल से हमेशा भिन्न रहती है उसी प्रकार यह निर्मल आत्मा शरीर के भीतर रह कर भी स्वभाव की अपेक्षा शरीर से सदा भिन्न ही रहता है अथवा कार्माणशरीर के भीतर रह कर भी कार्माणशरीरजन्य रागादि मलों से सदा अलिप्त रहता है ॥ ७ ॥

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्मविवर्जितम्।
नोकर्म-रहितं विद्धि, निश्चयेन चिदात्मनः ॥८॥

अर्थ—इस चैतन्यरूप आत्मा का स्वरूप निश्चय करके ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मों से शून्य, रागादिरूप भावकर्मों से रहित व औदारिक-वैक्रियिक आदि शरीररूप नोकर्मों से रहित जानना चाहिये ॥ ८ ॥

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यान-हीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥९॥

अर्थ—इस परमब्रह्मरूप परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप को शरीर के भीतर मौजूद होते हुये भी ध्यान-हीन पुरुष नहीं जानते। जैसे जन्मान्ध पुरुष सूर्य को नहीं जानता है।

तद्ध्यानं क्रियते भव्यैर्मनो येन विलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम् ॥१०॥

अर्थ—मोक्ष के इच्छुक भव्यजीवों को वही ध्यान करना चाहिए जिसके द्वारा यह चचल मन स्थिर होकर परमात्मस्वरूप मे विशेष रूप से लीन हो जावे, क्योंकि जिस समय इस प्रकार का ध्यान होता है उसी समय चैतन्यचमत्कारस्वरूप परमात्मा का साक्षात् दर्शन होता है ॥ ६ ॥

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधाना–स्ते दुख हीना नियमाद्भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्वं, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥११॥

अर्थ—जिन मुनियों का उत्तम ध्यान करना ही स्वभाव है वे मुनिपुंगव कुछ काल मे ही नियम से सर्व दुःखों से छूट कर अर्हत स्वरूप परमात्मपदको प्राप्त हो जाते है और बाद मे अयोगकेवली होकर क्षणमात्र मे अष्टकर्म रहित अविनश्वर मोक्षधाम मे सदा के लिये जा विराजमान होते है।

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं, समस्त-सकल्प-विकल्प-मुक्तम्।
स्वभावलीना निवसंति नित्य जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम्॥१२

अर्थ – निज स्वाभाव मे लीन हुए मुनि ही परमात्माके समस्त संकल्पों से रहित परमानंदमय स्वरूप मे निरतर तन्मय रहते है

और इस प्रकार के योगी महात्मा ही आगे कहे जाने वाले परमात्म-स्वरूप को स्वयं जानते है ॥१२॥

चिदानन्दमयं शुद्धं निराकारं निरामयम् ।
अनन्त-सुख-सम्पन्नं सर्वसङ्ग विवर्जितम् ॥१३॥
लोकमात्र प्रमाणोऽयं निश्चयेन हि संशयः ।
व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमेश्वरैः ॥१४॥

अर्थ—श्री सर्वज्ञदेव ने परमात्माका स्वरूप चिदानदमय शुद्ध रूप, रस, गध, स्पर्शमय आकार से रहित, अनेक प्रकार के रोगों से सर्वथा शून्य, अनतसुख विशिष्ट व सर्व परिग्रह रहित बताया है और निश्चय नयसे आत्मा वा परमात्मा का आकार लोकाकाश के समान असख्यात प्रदेशी तथा व्यवहार नयसे कर्मोदय से प्राप्त छोटे व बडे शरीर के बराबर बताया है ॥१३,१४॥

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं तत्क्षणं गत-विभ्रमः ।
स्वस्थ-चितः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधिना ॥१५॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए परमात्माके स्वरूप को योगी पुरुष जिस समय निर्विकल्पसमाधिके द्वारा (ध्याता-ध्येय-ध्यान की अभिन्न रूप एक अवस्था हो जाने से) जान लेता है उस समय उस योगी का चित्त रागादि जन्य आकुलतासे रहित स्थिर होता है और उसकी आत्मा को अनादि काल से भ्रम मे डालने वाले अज्ञान-रूपी पिशाच का नाश हो जाता है। उस समय वह निरचल योगी

ही आगे कहे जाने वाले विशेषणों से विशिष्ट हो जाता है।

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्व, स एव परमो गुरुः ॥१६॥
स एव परमं ज्योतिः स एव परम तपः।
स एव परम ध्यानं, स एव परमात्मनः ॥१७॥
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनम्।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमः शिवः ॥१८॥
स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः।
स एव परचैतन्यं, स एव गुणसागरः ॥१९॥

अर्थ—अर्थात् वह परमध्यानी योगी मुनि ही परमब्रह्म तथा घातिया कर्मों को जीतने से जिन, शुद्धरूप हो जाने से परम आत्मतत्त्व, जगतमात्र के हितका उपदेशक हो जाने से परमगुरु, समस्त पदार्थो के प्रकाश करने वाले ज्ञान से युक्त हो जाने से परमज्योति, ध्यान-ध्याता के अभेदरूप हो जाने से शुक्लध्यान रूप परमध्यान व परमतपरूप परमात्मा के वास्तविक स्वरूपमय हो जाता है तथा वही परमध्यानी मुनि ही सर्व प्रकार के कल्याणों से युक्त, परमसुखका पात्र, शुद्ध, चिद्रूप, परमशिव कहलाता है और वही परमानदमय, सर्वसुखदायक, परमचैतन्य आदि अनन्तगुणों का समुद्र हो जाता है।

परमाल्हाद-सम्पन्नं, राग-द्वेष-विवर्जितम् ।
अर्हन्त देहमध्ये तु, यो जानाति स पण्डितः ॥२०॥

अर्थ–इस प्रकार ऊपर कहे हुए परम आल्हादयुक्त, राग-द्वेष शून्य, अर्हन्तदेव को जो ज्ञानी पुरुष अपने देहरूपी मंदिर में विराजमान देखता व जानता है, वही पुरुष वास्तव में पंडित कहा जा सकता है ॥२०॥

आकार-रहितं शुद्धं स्व-स्वरूप-व्यवस्थितम् ।
सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरञ्जनम् ॥२१॥

अर्थ–इसी प्रकार अरहंत भगवान के स्वरूप की तरह सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को रूपरसादिमय आकार से रहित, शुद्ध, निज स्वरूप मे विराजमान, रागादिविकारों से शून्य, कर्म-मल से रहित, क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध, अगुरुलघुत्व और अवगाहनारूप अष्ट गुणों से सहित चिन्तवन करे ।

तत्सदृशं निजात्मानं, प्रकाशाय महीयसे ॥
सहजानन्दचैतन्यं, यो जानाति स पण्डितः ॥२२॥

अर्थ–सिद्ध परमेष्ठीके समान तीन लोक व तीनों काल वर्ती समस्त अनंत पदार्थों का एक साथ प्रकाश करने वाले केवलज्ञान आदि गुणोंकी प्राप्ति के लिये जो पुरुष अपनी आत्माको भी परमानन्दमय, चैतन्यचमत्कारयुक्त जानता है, वही वास्तव मे पंडित है ।

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥२३॥
काष्ठमध्ये यथा वन्हिः, शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः ॥२४।

अर्थ–जिस प्रकार सुवर्ण–पाषाणमे सोना गुप्त रीति से छिपा रहता है तथा दुग्ध मे जैसे घृत व्याप्त रहता है, तिल मे जैसे तैल व्याप्त रहता है उसी प्रकार शरीर मे परमात्मा को विराजमान समझना चाहिये । अथवा जैसे काष्ठके भीतर अग्नि शक्तिरूप से रहती है उसी प्रकार शरीर के भीतर शुद्ध आत्मा को जो पुरुष शक्तिरूप से विराजमान देखता है वही वास्तव मे पण्डित है ॥२३,२४॥

श्रीभट्टाऽकलंकप्रणीत

स्वरूपसम्बोधन

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना ।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१॥

अर्थ—मगलाचरण करते हुए आचार्य श्री अकलकभट्ट कहते है कि जो अवनिश्वर ज्ञानमूर्ति परमात्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंसे, रागादिक भावकर्मो से व शरीररूप नोकर्म से मुक्त (रहित) है और सम्यग्ज्ञान आदि अपने स्वाभाविक गुणों से अमुक्त (युक्त) है उस परमानदमय परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूॅ।

अर्थात उपर्युक्त तीन प्रकार के कर्मो को नष्ट कर देने के कारण जो मुक्तरूप है और अनतदर्शन, अनंतसुख, अनतवीर्य, आदि गुणो से युक्त होने के कारण जो अमुक्त रूप है और ज्ञान ही जिसकी मूर्ति है उस अविनश्वर परमात्मा को नमस्कार है।

मीमासक परमात्मा को कर्म रहित नहीं मानते इसलिये उनके मतको निराकरण करने के लिये कर्म-मुक्त विशेषण दिया गया है। नैयायिक व वैशेषिक, मुक्तजीव मे ज्ञानादि विशेष गुणों का भी अभाव मानते है इसलिये ज्ञानादि से अमुक्त विशेषण दिया है। कोई-कोई मतावलम्बी मुक्ति से फिर वापिस

माना मानते हैं इसलिये अक्षय विशेषण दिया गया है, सांख्य
ावलम्बी परमात्मा को ज्ञानरहित मानते हैं इस लये ज्ञानमूर्ति
विशेषण दिया गया है। और मुक्तामुक्त कहने से स्याद्वाद की सिद्धि
भी की गई है तथा आगे भी प्रायः प्रत्येक श्लोक मे स्याद्वाद की
सिद्धि की जायगी ॥१॥

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥२॥

अर्थ—वह परमात्मा आत्मरूप होने मे कारण स्वरूप है, और
ज्ञान-दर्शन-रूप होने से कार्य स्वरूप भी है। इसी तरह
केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य होने से ग्राह्य स्वरूप है,
और इन्द्रियों के द्वारा न जानने योग्य होने से अग्राह्य
स्वरूप भी हैं।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यरूप है, और परिणमन
शील होने से पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद-विनाश स्वभाव
भी है। इस प्रकार परमात्मा में अनेक तरह से अनेकांतपना
सिद्ध होता है ॥२॥

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥३॥

अर्थ—प्रमेयत्वादिक धर्मों की अपेक्षा से वह परमात्मा अचेतन
रूप है और ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से चेतनरूप भी है अर्थात्
दोनों अपेक्षाओं से चेतन-अचेतन स्वरूप है।

भावार्थ—आत्मा में एक चेतना नामका गुण है जिस गुणकी ज्ञान व दर्शन ये दो पर्याये होती हैं। और इस चेतना गुण अथवा इसकी ज्ञान-दर्शन पर्यायोकी अपेक्षा से ही आत्मा चेतन कहलाता है। इस चेतना गुण के अतिरिक्त आत्मा मे और जो प्रेमयत्व (जिसके होने से वस्तु ज्ञान का विषय होती है) आदि अनन्त गुण ऐसे है जो पुद्गलादि अचेतन पदार्थों मे भी पाये जाते है उन गुणों की अपेक्षा आत्मा एव परमात्मा को अचेतन भी कह सकते है और इसी लिये आत्मा में चेतनपना व अचेतनपना सिद्ध होता है।

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथञ्चन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूत, सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥४॥

अर्थ—वह परमात्मा ज्ञान से भिन्न है और ज्ञान से भिन्न नहीं भी है अर्थात् ज्ञान से कथचित (किसी अपेक्षा से) भिन्न है सर्वथा (सब अपेक्षाओं से) भिन्न नहीं है। इसी प्रकार वह परमात्मा ज्ञान से अभिन्न है और ज्ञान से अभिन्न नहीं भी है अर्थात् ज्ञान से कथचित् अभिन्न है सर्वथा अभिन्न नहीं है, क्यों कि पहले पिछले सब ज्ञानों का समुदाय ही मिल कर आत्मा कहलाता है।

भावार्थ आत्मा नित्य परिणामनशील पदार्थ है और उसमे अनंत गुण है जिनमे ज्ञान गुण एक ऐसा है कि जो हमारे अनुभव मे आता है और जिसके द्वारा हम अपने व दूसरे के आत्मा को जान सकते है इस कारण ज्ञान गुण को ही यहा आत्मा कहा

गया है। दूसरी बात यह है कि यह ज्ञान या चेतना गुण आत्मा मे हमेशा रहते हुए भी परिणमता (बदलता) रहता है इस कारण किसी एक समय के ज्ञानमात्र ही आत्मा न होनेसे ज्ञान से आत्मा भिन्न है। और सर्व समयों के ज्ञानों का समुदाय रूप होने से ज्ञान से आत्मा अभिन्न है, इसी कारण ज्ञान से आत्मा को सर्वथा भिन्न वा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्न माना गया ॥४।

स्वदेह प्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः।
ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥५॥

अर्थ—वह अरहंत परमात्मा अपने परम औदारिक शरीर के बराबर है और बराबर नहीं भी है अर्थात् समुद्घात (मूल शरीर मे रहते हुए भी आत्मा के प्रदेशों का कारण विशेष से कार्मण आदि शरीरो के साथ बाहर निकलना) अवस्था मे जिस समय केवली भगवान की आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं उस समय आत्मा औदारिक शरीर के बराबर नहीं है। इसी तरह वह परमात्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र नहीं भी है अर्थात् ज्ञानगुण को मुख्य करके व अन्य समस्त गुणों को गौण करके यदि विचारा जाय तो आत्मा या परमात्मा ज्ञानमात्र दृष्टि मे आता है और यदि अन्य गुणों को मुख्य किया जाय तो ज्ञान-मात्र दृष्टि मे नहीं भी आता है। इसी तरह जब केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोक व आलोक को जानने की अपेक्षा लेते हैं तब परमात्मा का सर्वगत भी कह सकते है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ पर-

मात्मा से गत अर्थात् ज्ञात है और सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हुए भी अरहन्त परमात्मा अपने दिव्य औदारिक शरीर मे ही स्थित रहता है इसलिये वह विश्वव्यापी नहीं भी हैं।

भावार्थ—परमात्मा मे उपर्युक्त धर्म कथंचित् सिद्ध होते हैं, सर्वथा सिद्ध नहीं होते ॥ ५ ॥

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः ।
चैतन्यैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—उस आत्मा मे मतिज्ञान, (इन्द्रिय व मन से वस्तु को जानना) श्रुतज्ञान (मति ज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्धी को जानना) आदि अनेक ज्ञान होते है तथा और भी सम्यक्त्व (सच्चा विश्वास), चारित्र (सच्चा आचरण) आदि अनेक गुण होते है जिनके कारण यह आत्मा यद्यपि अनेक रूप हो रहा है तथापि अपने चेतन स्वरूप की अपेक्षा एकपने को नहीं छोड़ता, इसलिये इस आत्मा को कथचित् अनेक रूप भी जानना चाहिये।

भावार्थ – जैसे एक पुरुष एक स्वरूप होकर भी पिता पुत्र,चचा, भतीजा आदि अनेक रूप कहा जाता है, क्योंकि पिता की अपेक्षा उसको पुत्र, और पुत्र की अपेक्षा उसी को पिता, भतीजे की अपेक्षा चचा और चचा की अपेक्षा भतीजा कहते है। उसी तरह एक आत्मा आत्मपने की अपेक्षा एक स्वरूप होकर भी अपने धर्मो की अपेक्षा अनेक रूप कहा जाता है ॥६॥

नाऽवक्तव्यः स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्यः परभावतः ।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः ॥७॥

अर्थ—वह आत्मा अपने स्वरूप की अपेक्षा वक्तव्य (कहे जाने योग्य) होने से सर्वथा अवक्तव्य (न कहे जाने योग्य) भी नहीं है। और पर पदार्थों के स्वरूप की अपेक्षा अवक्तव्य होने से सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपने धर्मों की अपेक्षा से कहा जाता है या पुकारा जाता है, परके धर्मोंकी अपेक्षा से नहीं व्यवहार किया जाता। जैसे कि आम का फल, आम के नाम से कहा जाता है, केला अमरूद आदि के नाम से नहीं कहा जाता इसलिये प्रत्येक वस्तु मे अपने स्वभाव से कहे जाने की योग्यता व अन्य पदार्थों के स्वभाव से न कहे जाने की योग्यता समझते हुए आत्मा मे भी ऐसा ही समझना चाहिये।

स स्याद्विधि-निषेधात्मा स्वधर्म परधर्मयोः।
स मूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥८॥

अर्थ—वह आत्मा अपने धर्मो का विधान करने वाला व अन्य पदार्थों के धर्मों का अपने मे निषेध करने वाला है और ज्ञान के आकार होने से वह आत्मा मूर्तिक तथा पुद्गलमय शरीर से भिन्न होने के कारण अमूर्तिक है।

भावार्थ—आत्मा मे जैसे स्वरूप की अपेक्षा विधिरूप धर्म है वैसे पर के स्वरूप की अपेक्षा निषेध रूप धर्म भी है। क्योंकि जैसे ज्ञानादिक आत्मिक धर्मो की अपेक्षा आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है वैसे रूपरसादिक पुद्गल के धर्मो की अपेक्षा आत्मा की सत्ता नहीं सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त, ज्ञान का पुंज होने के

कारण जैसे आत्मा मूर्तिक कहा जा सकता है उसी तरह पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ न होनेसे अमूर्तिक भी कहलाता है ॥८॥

इत्याद्यनेकधर्मत्वं बन्धमोक्षौ तयोः फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ॥९॥

अर्थ—इस प्रकार पहले कहे हुए क्रम के अनुसार यह आत्मा अनेक धर्मों को स्वयं धारण करता है और उनके धर्मों के फल स्वरूप बंध व मोक्ष रूप भी कारणाधीन स्वय परिणमता है।

भावार्थ—यह आत्मा राग-द्वेषादि कारणो से कर्म का बन्ध करके पराधीन व दुःखी भी अपने आप ही होता है, और ज्ञान, ध्यान, जप, तप, आदि कारणों से बन्ध-अवस्था को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त कर स्वाधीन भी स्वयं ही हो जाता है ॥९॥

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता तत्फलानां स एव तु ।
बहिरन्तरुपायाभ्यां तेषां मुक्तत्वमेव हि ॥१०॥

अर्थ—जो आत्मा बाह्य शत्रु-मित्र आदि व अन्तरङ्ग राग, द्वेष आदि कारणों से ज्ञानावरणादिक कर्मो का कर्ता व उसके सुख-दुःखादि फलों का भोक्ता है, वही आत्मा बाह्य स्त्री, पुत्र, धन, धान्यायादिका त्याग करने से कर्मों के कर्ता-भोक्तापने के व्यवहार से मुक्त भी है। अर्थात् जो ससार दशा मे कर्मो का कर्ता व भोक्ता है वही मुक्त दशा में कर्मों का कर्ता भोक्ता नहीं भी है ॥१०॥

सद्दृष्टि-ज्ञान-चरित्रमुपायः स्वात्म-लब्धये ।
तत्त्वे याथात्म्यसंस्थित्यमात्मनो दर्शनं मतम् ॥११॥

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथञ्चित्प्रमितेः पृथक् ॥१२॥
दर्शन-ज्ञान-पर्यायेषूत्तरोत्तरभाविषु ।
स्थिरमालम्बनं यद्वा माध्यस्थ्यं सुख-दुःखयोः । १३॥
ज्ञाता दृष्टाऽहमेकोऽहं, सुखे दुःखे न चापरः ।
इतीदं भावनादाढर्थं, चारित्रमथवाऽपरम् ॥१४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति अर्थात् संसार से मुक्त होने के कारण हैं, जिनमें से आत्मा के वास्तविक स्वरूप या सात तत्वों के सच्चे श्रद्धान को तो सम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थों के वास्तविकपने से निर्णय करने को सम्यग्ज्ञान कहते है। यह सम्यग्ज्ञान दीपक की तरह अपना तथा अन्य पदार्थों का प्रकाशक होता है, और अज्ञान-निवृत्ति रूप जो फल है उससे कथञ्चित् भिन्न भी है। स्त्री, पुत्रादिक बाह्य पदार्थों की मोह-ममता को त्याग कर जो अपनी ही क्रम २ से होने वाली ज्ञान-दर्शनादिक पर्यायों में आत्मा के उपयोग का स्थिर होना है उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। अथवा सांसारिक सुख-दुःखों में मध्यस्थभाव रखने को सम्यक चारित्र कहते हैं, या मैं ज्ञाता दृष्टा हूं, अपने कर्त्तव्य के फलस्वरूप सुख दुःखों का भोगने वाला स्वयं अकेला ही हूँ, बाह्य स्त्री-पुत्रादि पदार्थों का मेरे से कोई सम्बन्ध नहीं है इत्यादि अनेक प्रकार की शुद्ध आत्मस्वरूप में तल्लीन कराने वाली भावनाओं की दृढ़ता

को भी सम्यकचारित्र कहते हैं ॥ ११, १२ १३, १४ ॥

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम् ।

तद्बाह्यं देशकालादि तपश्च बहिरङ्गकम् ॥१५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को जो ऊपर के श्लोकों मे मोक्ष-प्राप्ति का मूल कारण बताया है उनके सहकारी कारण बाह्य देश-कालादिक व अनशन, अवमौदर्य आदि बाह्य तप समझने चाहिये ।

भावार्थ—मोक्ष-प्राप्ति मे जैसे रत्नत्रय अतरग कारण है वैसे ही उत्तम क्षेत्र, दु खमसुखमा काल व वज्रर्षभनाराचसंहनन, उपवास आदि तप बाह्य कारण है ॥१५॥

इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः ।

आत्मानं भावयेन्नित्यं, राग-द्वेष-विवर्जितम् ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार तर्क-वितर्क के साथ आत्मस्वरूप को अच्छी तरह जान कर सुख मे व दु ख मे यथाशक्ति आत्मा को नित्य ही राग-द्वेष रहित चिंतवन करना चाहिये अर्थात् सुखसामग्री के मिलने पर राग नहीं करना चाहिए और अनिष्ट समागम मे द्वेष नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सब इष्ट अनिष्ट पदार्थ आत्मा की कुछ भी हानि नहीं कर सकते । इनका सम्बन्ध केवल शरीर से रहता है ऐसा विचार रखना चाहिए ॥१६॥

कषायै रञ्जितं चेतस्तत्त्व नैवावगाहते ।

नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौङ्कुमः ॥१७॥

अर्थ—क्रोधादि कषायों से रंजयामान हुए मनुष्य का चित्त वस्तुके असली स्वरूप को नहीं पहिचान सकता, जैसे कि नीले कपड़े पर केसर का रंग नहीं चढ सकता।

भावार्थ—वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानने का यत्न करने से भी पहले हृदय से क्रोधादि कषायों को दूर करना चाहिए, तभी वस्तु का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। जैसे अग्नि से जली हुई भूमि मे अकुर नहीं उगता, वैसे ही कषाय से दग्ध हृदय मे धर्मांकुर नहीं उगता। प्रत्येक पुरुष को निरन्तर कषायों को दूर करने के लिए पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिये, जिसमे कि वे संसार सागर मे डूबी हुई अपनी आत्मा का उद्धार कर सके ॥१७॥

ततस्त्वं दोष-निर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः ।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्व-चिन्तापरो भव ॥१८॥

अर्थ—आचार्य व्यवहारी जीव से कहते है कि हे भाई ! जब राग-द्वेष के बिना दूर किये आत्महित नहीं हो सकता तब तुमको राग-द्वेष नष्ट करने के लिये शरीरादिक परपदार्थों का मोह त्याग कर और संसार, शरीर व भोगों से उदासीन भाव धारण करके तत्व-विचार में तन्मय रहना चाहिए ॥१८॥

हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थितिं विज्ञाय हेयतः ।
निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये मावलम्बनः ॥१९॥

अर्थ—हेय (त्यागने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों का स्वरूप जानकर हेय वस्तु को त्यागना चाहिये व उपादेय वस्तु को ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ—जो स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, शत्रु, मित्रादि पदार्थ आत्महित के बाधक व रागद्वेष के बढ़ाने वाले हैं उनसे सम्बन्ध छोड़ना चाहिये और ससारी जीवों को एकमात्र पच परमेष्ठी का शरण ग्रहण कर ज्ञान-ध्यानादि मे तन्मय रहना चाहिये ॥१६॥

स्वं परं चेति वस्तुत्वं, वस्तुरूपेण भावय ।

उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि ॥२०॥

अर्थ—अपनी आत्मा के व पर पदार्थों के असली स्वरूप का बार २ चिंतवन करना चाहिये और समस्त ससारी पदार्थों की इच्छा का त्याग करके उपेक्षा (राग-द्वेष के त्याग की) भावना को बढ़ाते २ मोक्ष पद प्राप्त करना चाहि ॥२०॥

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति ।

इत्युक्त्वाद्धितान्वेषी, कांक्षा न क्वापि योजयेत् ॥२१॥

अर्थ—जब किसी साधु महात्मा पुरुष के हृदय से मोक्ष की भी इच्छा निकल जाती है तभी उसको मुक्ति प्राप्त हो सकती है इस सिद्धान्त-वाक्य के ऊपर ध्यान देते हुए आत्महित के इच्छुक जीवों को सभी पदार्थों को इच्छा का त्याग करना चाहिये ।

भावार्थ—किसी भी पदार्थ की प्राप्ति प्रयत्न करने से होती है, इच्छामात्र से नहीं होती । यहां तक कि मोक्ष की इच्छा करने से मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता, किन्तु इच्छा करने से मोक्ष-प्राप्ति में उलटी बाधा उपस्थित होती है, इसलिये आत्मा का हित चाहने वाले पुरुषों को इच्छा सर्वथा त्याज्य समझना चाहिये ॥२१॥

साऽपि च स्वात्मनिष्ठत्वात्सुलभा यदि चिन्त्यते।
आत्माधीने सुखे तात, यत्नं किं न करिष्यसि ॥२२॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि इच्छा करना तो अपने आधीन होने से सुलभ है किन्तु फलप्राप्ति अपने आधीन न होने से कठिन है इसलिये इच्छा किसी भी वस्तु की जा सकती है, ऐसा कहने वाले को आचार्य करुणापूर्वक कहते है कि हे भाई! जैसे इच्छा करना आत्माधीन होने से सुलभ है वैसे ही परमानन्दमय सुख का पाना भी तो आत्मा के ही आधीन है इसलिये तुम उस सुख की प्राप्ति का प्रयत्न ही क्यों नहीं करते, जिससे कि ससार के झगडों से छूट कर हमेशा के लिये निराकुलित हो जाओ ॥२२॥

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्त्विमम्।
अनाकुल-स्वसवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले ॥२३॥

अर्थ—आचार्य कहते है कि मुक्ति प्राप्त करना भी अपने ही आधीन समझ कर स्व और पर को जानना चाहिये तथा बाह्य पदार्थों के मोह को नष्ट करना चाहिये और आकुलता रहित स्वानुभवगम्य केवल अपने निज स्वरूप मे ही स्थिर होना चाहिए ॥२३॥

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरे।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानन्दममृत पदम् ॥२४॥

अर्थ—इस श्लोक मे आचार्य आत्मा मे ही सातों कारक सिद्ध करते हुए कहते है कि व्यवहारी जीवों को अपने ही आत्मा में

अपने ही आत्महित के लिये अपने ही द्वारा अपने आप ही अपना ध्यान करना चाहिये और अपने ही ध्यान से उत्पन्न हुए परमानंद-मय अविनश्वर पद को प्राप्त करना चाहिए ॥२४॥

इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयं,
य एतदाख्याति शृणोति चादरात् ।
करोति तस्मै परमार्थसम्पदं,
स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः ॥२५॥

अर्थ—श्री अकलंकभट्टाचार्य उपसंहार करते हुए ग्रन्थ का महात्म्य वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पच्चीस श्लोकों में कहे हुए इस 'स्वरूपसम्बोधन' ग्रन्थ को पढ़ेंगे, सुनेंगे और इसके वाक्यों द्वारा कहे हुए आत्मतत्व का बारम्बार मनन करेंगे उनको यह ग्रन्थ परमार्थ की सम्पत्ति अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करावेगा ॥२५॥

सामयिक-पाठ

सिद्धवस्तुवचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमतः सदा ।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः, सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् ।१।

अर्थ—श्री सिद्ध परमेष्ठी व जगत सिद्ध सभी पदार्थों के कहने वाले आगम को अथवा आगम के मूलकर्त्ता श्री अरहंत भगवान् को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके व उनके बताये हुए मार्ग पर चल करके जिन पुरुषों ने संसारदुख के नष्ट करने रूप कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसे जीवन्मुक्त अरहत देव व मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी हमको भी अविनश्वर पद प्राप्त करावे ।

भावार्थ—जिन पुरुषों ने श्री अरहत देव व सिद्ध परमेष्ठी को अपना आदर्श मानकर व उनके बताये हुये मार्ग का अवलम्बन लेकर अरहत व सिद्ध पद प्राप्त किया है वे हमको भी उसी अविनश्वर पद के मार्ग पर लगावे । इस श्लोक मे यह बात भी बता दी गई है कि मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र उपाय श्री अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी को आदर्श मानकर उनके बताये हुए मार्ग का अवलम्बन करना ही है ॥१॥

नमोऽस्तु धौत-पापेभ्यः सिद्धेभ्य-ऋषि-संसदि ।
सामायिकं प्रपद्येऽहं, भव-भ्रमण-सूदनम् ॥२॥

अर्थ—समस्त कर्म-कलंक को नष्ट कर देने वाले श्री सिद्ध परमेष्ठी को अत्यन्त भक्ति सहित अपने मनोमन्दिर मे विराजमान करके महर्षि पुरुषों के रहने योग्य कोलाहलादि से रहित पवित्र स्थान में स्थिर होकर ससार दु ख को नाश करने वाली तथा परमानन्द पद को प्राप्त कराने वाली सामायिक को मैं प्रारम्भ करता हू ॥ २ ॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित् ।

आशां सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये ॥३॥

अर्थ—सामायिक करते समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि सम्पूर्ण जीवमात्र मे मेरी समता रहे, वैर भाव किसी के साथ भी न हो और समस्त सासारिक इच्छाओ को त्याग कर मैं निरन्तर आत्मध्यान मे तल्लीन रहू ॥३॥

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिताः ।

क्षमन्तु जन्तवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यह पुनः ॥४॥

अर्थ—अनादि काल से अब तक संसार चक्र मे भ्रमण करते हुए मैंने राग-द्वेष व मोहवश जिन जीवों का घात किया है उनसे मेरी अति विनयपूर्वक परोक्ष प्राथना है कि वे मुझे क्षमा करें मुझे स्वयं भी अनादि काल से अब तक निरन्तर बनी हुई अपनी इस दुर्बुद्धि का अत्यन्त खेद है । इसके अतिरिक्त जिन जीवों से मेरे प्रति कुछ अपराध बन गया हो उनको भी मैं सरल हृदय से क्षमा करता हूँ ।

मनसा वपुषा वाचा, कृत-कारित-सम्मतैः।

रत्नत्रय-भवं दोषं, गर्हे निन्दामि वर्जये ॥५॥

अर्थ—सामायिक मे यह भी विचारना चाहिये कि मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित व अनुमोदना के द्वारा जो मैंने अपने रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र मे दोष लगाया है उसकी मैं गर्हा व निंदा करता हू और उस दोषका परित्याग करता हू ॥५॥

तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।

कायाहार-कषायादीन्, संत्यजामि त्रिशुद्धितः ॥६॥

अर्थ—तिर्यञ्च, मनुष्य व देवो से किये हुए उपसर्ग को भी शान्तिपूर्वक सहन करने के लिये मैं इस समय तैयार हूँ और शुद्ध मन वचन काय पूर्वक शरीर से ममत्व त्यागता हू। सामायिक के काल तक आहार व अन्य परिग्रहों को छोडता हू, तथा क्रोधादिक कषायोंको अपना शत्रु समझ कर यथाशक्ति त्यागना चाहता हू ॥६॥

रागं द्वेषं भय शोकं, प्रहर्षौत्सुक्य-दीनताः।

व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥७॥

अर्थ—राग, द्वेष, भय, शोक, हर्ष उत्सुकता, दीनता, रति, अरति आदि सभी दोषों को मैं आत्मघातक समझ कर मन वचन काय से सामायिक के काल तक त्यागता हू व हमेशा के लिये इनको त्यागने योग्य शक्ति प्राप्त करना चाहता हू ॥७॥

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये ।
बन्धावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम ॥८॥

अर्थ—जीवन-मरण मे, लाभ-अलाभ मे, सयोग-वियोग में, शत्रु-मित्र मे, व सुख-दु ख मे, मेरे सदा समताभाव रहे ऐसा विचार करना चाहिये व सामायिक मे इसी प्रकार का समता भाव रखना चाहिये ॥८॥

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा ।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवर-योगयोः ॥९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचरित्र व सम्यक् त्याग मे और कर्मोके रोकने व ध्यानादि करने मे मेरे एक आत्मा ही शरण है।

भावार्थ—आत्मा की शुद्ध दशा हो जाने पर ये सब गुण प्राप्त हो जाते है अथवा ये सब गुण आत्मा की शुद्ध दशा से भिन्न नहीं हैं इस लिये आत्मा शुद्ध होने पर इनकी प्राप्ति के लिये पृथक् प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है ॥९॥

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञान-दर्शन-लक्षणः ।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१०॥

स्था
त्सव

अर्थ—ज्ञानदर्शनस्वरूप एक नित्य आत्मा ही वास्तवमे मेरी निधि है, बाकी कर्मो के संयोग से होने वाले जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि परिणाम हैं या स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादिक

बाह्य पदार्थ हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं उनसे मेरा वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं है ॥१०॥

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःख-परम्परा ।
तस्मात्संयोग-सम्बन्धं, त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥११॥

अर्थ—इस मेरी आत्मा ने अनादि काल से अब तक ज्ञानावरणादि कर्मो के संयोग से ससार में रुलते २ बहुत दु ख पाये है, इसलिये अब मैं मन, वचन, काय से कर्मसम्बन्ध को त्यागता हूँ । इत्यादिक भावनाओं व विचारों द्वारा सामायिक करते समय अपमे मन को हित-अहित का विवेचक बनाना चाहिये ॥११॥

एवं सामायिकात्सम्यक्, सामायिकमखंडितम् ।
वर्त्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः ॥१२॥

अर्थ—इस प्रकार सामायिक पाठमे कही हुई रीति के अनुसार परम अखडित सामायिक को करने से जो महात्मा पुरुष मुक्ति रूपी स्त्री के वशीभूत हो गये है अर्थात् जिनको मुक्ति प्राप्त हो ई है उनको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥१२॥

मृत्यु-महोत्सव ।

सल्लेखना किसे कहते हैं और वह कब की जाती है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१॥

अर्थ—जिसका कुछ प्रतीकार या इलाज न किया जा सके ऐसे किसी भयकर सिंह आदि द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आ जाने पर, जिसमे शुद्ध भोजन सामग्री न मिल सके, ऐसे दुष्काल के पड जाने पर, जिसमे धार्मिक व शारीरिक क्रियाये यथोचित रीति से न पल सके ऐसे बुढापे के आ जाने पर तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर, धर्म की रक्षा के लिए शरीर के त्याग करने को व यथाशक्ति कषायो के मन्द करने को महात्मा पुरुष सल्लेखना या समाधि मरण कहते हैं।

आगे के श्लोकों मे बताये हुए कारणों से इस मृत्यु अवस्था को दु खदायक न समझ कर एक प्रकार का उत्सव या महोत्सव समझना चाहिए, क्योंकि यह समय आयु पर्यन्त अभ्यास किये हुए ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि शुभ कार्यो की परीक्षा का है और किये हुए शुभ कार्यो के फल की प्राप्ति का है। जैसे वीर पुरुष बहुत काल तक शस्त्र-विद्या का अभ्यास कर युद्ध में जाते समय

हर्ष मानता है और मरने का भय नहीं करता, उसी तरह इस ज्ञानी पुरुष को भी मृत्यु-समय मे कुटुम्बियों आदि से व शरीर से मोह त्यागने मे बहादुरी दिखानी चाहिये ॥१॥

तप के फलस्वरूप समाधि मरण के लिये प्रयत्न—

अन्तःक्रियाऽधिकरणं, तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभव, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥२॥

अर्थ—आयु पर्यन्त किये हुए तप का फल श्री अरहंत देव ने अन्त समय मे होने वाला समाधि मरण कहा है, इसलिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगाकर समाधि मरण करने मे परम प्रयत्न करना चाहिए ।

भावार्थ—जैसे बहुत काल तक शास्त्राभ्यास करके भी परीक्षा के समय अनुत्तीर्ण (फेल) हो जाने वाला छात्र प्रशसा का पात्र नहीं होता अथवा युद्ध मे हार जाने वाले सिपाही की जैसे कोई बढ़ाई नहीं करता उसी तरह आयुपर्यन्त तप आदि करके भी जो पुरुष मरण समय मे शरीर के या सम्बन्धियों के मोह मे विह्वल हो जाते है, उनका तप या ज्ञानादिक पाना प्रशसनीय नहीं कहा जा सकता । इसलिए अन्त समय मे शरीर को कारागृह (कैदखाने) और सम्बन्धियों को पहरेदार के समान समझकर दोनों से प्रेम त्यागना चाहिए । क्योंकि तप, ज्ञान, ध्यान आदि उत्तम कार्यो के करने से परलोक मे मिलने वाली जो उत्तम विभूति है उसके शीघ्र प्राप्त होने मे शरीर व सम्बन्धी बाधक होते है ॥२॥

समाधि मरण के समय का कर्तव्य ।

स्नेहं वैरं सगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥३

अर्थ—समाधि मरण के समय शुद्ध मन पूर्वक मित्रों से प्रेम, शत्रुओं से बैर व स्त्री-पुत्रादिक से पति-पिता आदि का सम्बन्ध त्याग कर और सर्व प्रकार के चेतन-अचेतन परिग्रह से अर्थात् गाय, भैंस, दासी, दास, रुपये, पैसे, घर-बार आदि से स्वामीपने की बुद्धि का त्याग करके सम्पूर्ण कुटुम्बियों व अन्य मेल-मिलापी जनों से क्षमा करानी चाहिए और स्वय भी मिष्ट वचनों द्वारा सब को क्षमा करे ।

भावार्थ—गृहवास को सराय मे किये हुए पड़ाव के समान या एक वृक्ष पर किये हुए अनेक पक्षियों के बसेरे के समान समझ कर अपने को अकेला ही समझना चाहिए। मुसाफिर खाने की भीड़ को भाई, बधु, ताऊ, चचा, पुत्र, मित्र आदि समझ कर आकुलित होने से इस जीव का कोई भी लाभ नहीं होता है। इसलिये उक्त विचारों के द्वारा सबसे मोह त्याग कर आनन्द पूर्वक इस जीर्ण, शीर्ण, दुर्गन्धमय व रोग ग्रसित शरीर से कूच करने के लिये तैयारी करनी चाहिये ॥३॥

मृत्यु-महोत्सव की तैयारी ।

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥४॥

अर्थ—आयु पर्यन्त मन-वचन-काय से व कृत, कारित, अनु-

ज[illegible]ा (करना-कराना, खुशी-मनाना) से संचय किये हुए समस्त भ[illegible]कार्यों की आलोचना-निंदा करके मरण पर्यन्त के लिए समस्त [illegible]व्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह) को धारण [illegible]रना चाहिये ॥४॥

शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।

सत्त्वोत्साहमुदीर्य च, मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥५॥

अर्थ—समाधि मरण के समय कायरपने के व दुःख के कारण-भूत शोक, भय, खेद, ग्लानि, कलुषता व अरति (बेचैनी) आदि को त्याग कर अपने पराक्रम और उत्साह को पूर्ण रूप से प्रकट करना चाहिए और अमृतोपम शास्त्र-वचनों का रसास्वाद करते रहना चाहिए ।

समाधि मरण की विधि ।

आहारं परिहाप्य च क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत् पानम् ।

स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥६॥

खरपानहापनामपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।

पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥७॥

अर्थ—समाधि मरण करते समय शरीर से ममत्व घटाने के लिये क्रम से पहले आहार का त्याग करके दुग्ध-पान का अभ्यास करना चाहिये । पश्चात् दुग्ध का भी त्याग करके छाछ या गर्म जल को पीने का अभ्यास करना चाहिये । बाद मे शक्तिपूर्वक जलादिक सभी वस्तुओं का त्याग करके उपवास करते हुए तथा

सर्व यत्न से पंचपरमेष्ठी के गुणों का ध्यान करते हुये शरीर व छोड़ना चाहिये ॥ ६, ७ ॥*

मोक्ष नगर के लिये कलेवा

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य, वीतरागो ददातु मे ।
समाधि-बोध-पाथेयं, यावन्मुक्तिपुरी पुरः ॥८॥

अर्थ—श्री वीतराग सर्वज्ञ देव से प्रार्थना है कि मृत्यु-महोत्सव रूपी कार्य में लगे हुये मुझको स्वरूप की सावधानी व रत्नत्रय की प्राप्ति रूपी पाथेय (कलेवा) देवें, जिससे कि मैं मोक्ष-नगर में जा पहुँचूँ ।

भावार्थ—अरहंत देव आदि की प्रार्थना या भक्ति करने से यद्यपि साक्षात् मोक्ष प्राप्ति नहीं होती, तथापि पुण्यबन्धपूर्वक परम्परा हो सकती है ॥ ८ ॥

मरने में भय क्यों किया जाय ?

कृमिजाल-शताकीर्णे, जर्जरे देहपंजरे ।
भज्यमाने न भेतव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥९॥

अर्थ—मरण के भय को दूर करने के लिये मरते समय आत्मा को ऐसे समझना चाहिये कि हे आत्मन् ! तू तो ज्ञानरूपी दिव्य शरीर का धारी है इसलिये सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे हुए इस

---

* नोट—उपयोगी व प्रकरण योग्य समझ कर श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचार के ये उपर्युक्त ७ श्लोक भी मृत्युमहोत्सव के साथ में लगा दिये हैं ।

ज[illegible]-शीर्ण शरीर रूपी पींजरे के नाश होते समय तुझे कदापि भ[illegible] करना उचित नहीं है।

भावार्थ—यह विचारना चाहिये कि अनादि काल से संसार चक्र में भ्रमण करते २ ये हाड मास के शरीर तो तैंने इतने पा लिये है, यदि वे सब इकट्ठे हो सकते तो उनसे यह सम्पूर्ण तीन लोक भर जाता, अब एक शरीर के नष्ट होने मे भी दु ख मानना या भय करना योग्य नहीं है ॥ ९ ॥

नये नगर को गमन

ज्ञानिन् भय भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तर-स्थितिः ॥१०॥

अर्थ—हे ज्ञानी आत्मन् ! इस मृत्यु रूप महोत्सव के प्राप्त होने से तू क्यों भय करता है क्योंकि इस मृत्यु के द्वारा तो तू अपने ज्ञानादिक स्वरूप मे स्थित रहता हुआ शरीरान्तर रूप नये नगर को गमन करता है।

भावार्थ— मृत्यु जब आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि निधि को नहीं छीनती किन्तु उसको इस जीर्ण शरीर रूपी टूटी-फूटी झोंपडी से निकाल कर नवीन शरीररूपी मनोहर महल मे पहुँचाती है तब उसको भयकारी या दु खदाई न समझ कर हितकारी ही समझना चाहिये ॥ १० ॥

मरण मे स्वर्ग के सुख ।

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात्, दृश्यते पूर्वसत्तमैः ।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्य, मृत्युभीतिः कुतः सताम् ॥११॥

अर्थ—महात्मा पुरुष कहते हैं कि जब मृत्यु के द्वारा जन्म भर दिये हुए दानों के फल स्वर्गादिक के सुख प्राप्त होते हैं, तब मृत्यु जैसे उपकारी मित्र से भय करना कैसे उचित हो सकता है ॥११॥

मृत्यु-भूपति का स्वागत।

आगर्भाद् :ख सतप्तः प्रक्षिप्तो देह-पंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन, मृत्यु-भूमिपति बिना ॥१२॥

अर्थ—समाधि मरण करते समय विचारना चाहिये कि कर्म-रूपी शत्रु ने मुझे इस देह रूपी पिंजरे मे लाकर बन्द कर रक्खा है जिसके कारण मैं गर्भ से लेकर अब तक अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा हूँ। इस शरीर को मैंने जन्म भर उत्तम २ भोजन कराये, अच्छे २ वस्त्र पहिनाये और अनेक प्रकार की सुख सामग्री प्राप्त करवाई, स्वय अनेक प्रकार की लोभादि कषायों से सन्तप्त रह कर धन कमा २ कर इसको अनेक प्रकार के आराम दिये, किंतु इस कृतघ्न ने मुझे कभी सुख न दिया। अच्छे भोजनों का मलमूत्र रुधिर आदि बना कर उनमे मुझको सड़ाया, दिव्य से दिव्य वस्त्रों को इसने बदबूदार बनाया, संसार के अनेक जीवों से झूठे नाते जुड़वाये इत्यादि अनेक दुःखों के कारण मैं इससे तंग आ गया हूँ और मृत्युरूपी बलवान राजा के विना और कोई इस दुष्ट शरीर रूपी पिशाच से मुझे बचाने के लिये समर्थ नहीं है इसलिये स्वय ही मेरे पास आये हुये मृत्यु-महाराज का मुझे बड़ा उपकार मानना चाहिये ॥ १२ ॥

मृत्यु-मित्र।

सर्व-दुःख-प्रदं पिण्डं, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्यु-मित्र-प्रसादेन, प्राप्यते सुख-सम्पदः ॥१३॥

अर्थ—आत्मदर्शी ज्ञानी पुरुष रूपी मित्र के प्रसाद से सब दुःखो को देने वाले इस देह रूपी पिंड को त्याग कर सुख-सम्पत्ति को प्राप्त होते है अर्थात् गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त इस अपवित्र शरीर मे निवास करके जीवों को जो अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं उन सबसे छुड़ा कर स्वर्ग आदिक सुख को प्राप्त कराने के लिये मृत्यु ही समर्थ है इसी लिये ज्ञानी पुरुष मृत्यु को मित्र के समान जानते है॥ १३॥

मृत्यु-कल्पवृक्ष।

मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधितः।
निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात् किं करिष्यति ॥१४॥

अर्थ—जिस पुरुष ने मृत्युरूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करके भी अपनी आत्मा का हित साधन नहीं किया वह फिर संसार-रूपी कीचड़ मे फस कर अर्थात् दुर्गति मे जाकर पाये हुये नीच शरीर मे कैद हो जाने के बाद अपना क्या कल्याण कर सकेगा।

भावार्थ—मरते समय जो जीव अपने परिणामों को विशुद्ध रखता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है और जो मोह-माया में फंस कर मरता है वह दुर्गति मे जाता है। इसलिये

मरते समय जैसे बने वैसे प्रयत्नपूर्वक विशुद्ध परिणाम रखने चाहिये ॥१४॥

बिना प्रयत्न सुन्दर शरीर व उत्तम इन्द्रियों की प्राप्ति।

जीर्णं देहादिकं सर्वं, नूतन जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय, सतां सातोत्थितिर्यथा ॥१५

अर्थ—जिस मृत्यु के द्वारा जीर्ण-शीर्ण शरीर व शिथिल इन्द्रिया छूट जाती हैं और नवीन शरीर व उत्तम इन्द्रियां प्राप्त हो जाती है। साता वेदनीय कर्म के उदय की भाति उस मृत्यु के आने पर जीवों को क्या हर्ष नहीं मानना चाहिये ? किन्तु अवश्य मानना चाहिये।

भावार्थ—जैसे साता वेदनीय कर्म के उदय (फल देने) से जीवोको अनेक प्रकार की सांसारिक सुख-सामग्री प्राप्त होती हैं। उसी तरह मृत्यु होने पर भी परलोक मे व इस भव मे किये हुए पुण्य कर्मों का उत्तम फल मिलता है। इसलिये जैसे साता कर्म के उदय को संसारी जीव चाहते हैं वैसे ही मृत्यु आने पर उसका भी हर्ष मानना चाहिये।

सुख दु ख आत्मा को होता है न कि शरीर को।

सुखं दुख सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत्।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः ॥१६॥

अर्थ—सुख दु'ख का अनुभव शरीर मे स्थित जो आत्मा है उसको होता है, शरीर को नहीं होता, और मृत्यु-समय स्वयं शरीर से निकाल कर परलोक मे जाता ही है, यहीं रह कर

शरीर की तरह नष्ट होता नहीं, फिर मृत्यु का भय वास्तव में किसको मानना चाहिये ? अर्थात् किसी को भी मानना नहीं चाहिये, क्योंकि जिस आत्मा को सुख दु ख होता है उसका तो मरने से कुछ बिगड़ता नहीं, और जो शरीर नष्ट होता है उसको सुख दु.ख का ज्ञान नहीं, इसलिये बिना ज्ञान के शरीर को भय भी नहीं लग सकता, आत्मा शरीर के मोह से भय करता है सो उसको नवीन शरीर मिल जाने के कारण भय उचित नहीं ॥१*॥

मृत्यु ज्ञानी के प्रमोद और अज्ञानी के शोक का कारण है।

मंसारासक्त-चित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्य वासिनाम् ॥१७॥

अर्थ—जिन पुरुषों का चित्त ससार मे आसक्त हो रहा है उनके लिये मृत्यु भय का कारण है और जो महात्मा पुरुष आत्म-ज्ञान में तल्लीन है तथा ससार से उदास हैं उनको मृत्यु के आने का भी हर्ष होता है, शोक नहीं होता ॥१७॥

देहाधिपति की बेरोक यात्रा।

पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया।
तदासौ वार्यत् केन प्रपञ्चैः पाञ्चभौतिकैः ॥१८॥

अर्थ—इस शरीर रूपी नगर का मालिक यह आत्मा किये हुए पुण्य के फलको प्राप्त करने की इच्छा से जब परलोक यात्रा करता है तब यह पंच भूत मय शरीर उसको कदापि नहीं रोक सकता।

भावार्थ—जब तक इस जीव के इस लोक सम्बन्धी आयु का उदय रहता है तभी तक शरीर आत्मा को कैद कर सकता है, और जिस समम यह आयु समाप्त हो जाती है व दूसरी आयु का उदय आजाता है उस समय आत्माको परलोक जाने से शरीर तो क्या बडे २ इन्द्रादिक भी नहीं रोक सकते ? ॥१८॥

मृत्यु-समय की पीड़ा ज्ञानी को वैराग्य का कारण है।

मृत्यु-काले सतां दुःखं, यद्भवेद् व्याधि-सम्भवम्।
देह मोह-विनाशाय, मन्ये शिव-सुखाय च ॥१९॥

अर्थ— मृत्यु-समय मे जो प्राय. रोगसम्बन्धी पीड़ा होती है उसे भी ज्ञानी पुरुष शरीर से मोह त्यागने मे कारण मानते हैं और परलोक के उत्तम सुखों का निमित्त जानते है, क्योंकि अनेक प्रकार के रोगों से जीर्ण-शीर्ण दुर्गन्धित शरीर मे निवास करने से उनको इस तरह की अरुचि हो जाती है जैसी कि एक उच्चकुलीन पवित्र पुरुष को चाण्डाल आदि के दुगन्धमय घिनावने घर से होती है ॥१९॥

मृत्यु, को ज्ञानी सुख और अज्ञानी दु ख का कारण मानते है।

ज्ञानिनोऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाकविधिर्यथा ॥२०॥

अर्थ—अज्ञानी जीवों के मृत्यु दु खदाई मालूम देने पर भी ज्ञानी पुरुषों को सुधा के समान सुखका कारण मालूम होती है। क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक कच्चा घड़ा अग्नि मे नहीं पकाया जाता तब तक उसमे जैसे अमृत स्वरूप जल नहीं भरा जाता

उसी प्रकार मरण समय में होनेवाले रोगादिकों की पीड़ा को शांति-पूर्वक सहे बिना स्वर्ग-मोक्ष के सुख नहीं मिल सकते ऐसे बिचारों के कारण ही ज्ञानी पुरुषों को मरण का दुःख नहीं होता ॥ २० ॥

कठिन तप व समाधि मरण के फल की समानता।

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्य स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥२१॥

अर्थ—जो फल बडे बडे व्रती पुरुषों को कायक्लेश आदि तप, व्रत, आदि के धारण करने से प्राप्त होता है वह फल अन्त समय मे सावधानी पूर्वक किये हुए समाधि मरण से जीवों को सहज मे ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जो आत्म विशुद्धि अनेक प्रकार के कठिन व्रताचरण व तप करने से होती है वह मरण समय में कुछ काल तक ही शान्ति धारण करने व संसार का मोह त्यागने से प्राप्त हो जाती है ॥ २१ ॥

शान्तिपूर्वक मृत्युका फल—

अनार्त्तःशान्तिमान्मर्त्यो शांति, न तिर्यग्नापि नारकः ।
धर्मध्यानी पुरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः ॥२२॥

अर्थ—जो पुरुष अन्त समय में आर्त्त रौद्र परिणाम न करके शान्तिपूर्वक मरण करता है वह तिर्यञ्च गति व नरक गति में नहीं जाता, और जो ज्ञानी जन धर्मध्यानपूर्वक उपवास करके परलोक यात्रा करते हैं वे स्वर्ग के इन्द्र आदि उत्तम पदों को प्राप्त करते हैं ॥ २२ ॥

समाधि मरण से ही व्रत, तप व शास्त्रज्ञान सफल होते हैं—

तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना ॥२३॥

अर्थ—बहुत काल तक किये हुए उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुये शास्त्रज्ञान का एक मात्र फल शान्तिपूर्वक आत्मानुभव करते हुये समाधिमरण करना है ।

भावार्थ यदि कोई पुरुष आयु पर्यन्त तप करके, व्रत पालके वा शास्त्राभ्यास करके भी मरण समय मे मोह को घटा कर शांत परिणाम न कर सका तो उसका व्रतादिक पालने का सब परिश्रम एक तरह से व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥ २३ ॥

नवीन से प्रेम और पुराने से अरुचि ।

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवादः ।
चिरतरशरीरनाशे, नवतरलाभे च किं भीरुः ॥ २४ ।

अर्थ—ससारी जीवों का प्राय, ऐसा नियम है कि वे अच्छी से अच्छी वस्तु का भी अत्यत परिचय होने पर एक प्रकार से तिरस्कार करने लगते हैं, और नवीन वस्तु चाहे अच्छी भी न हो तो भी उसमे प्रीति किया करते हैं, इस नियम को लेकर शास्त्रकार संसारी जीवों से कहते है कि भाई मरने से तो तुम्हें पुराना शरीर छूट कर नवीन शरीर मिलता है फिर तुम मरने से क्यों डरते ॥२४॥

स्वर्गादेत्य पवित्र-निर्मल-कुले संस्मर्यमाणा जनैः ।
दत्वा भक्तिविधायिनां बहुविधं वाच्छानुरूपं धनम

भुक्त्वा भोगमहर्निशं परकृत स्थित्वा चणं मण्डले।
पोत्रावेशविजंनामिव मूर्तिं सन्तो लभन्ते स्वतः ॥२५॥

अर्थ—पहले श्लोकों मे बताया है कि जो ज्ञानी महात्मा पुरुष मरण समय मे धर्मध्यानपूर्वक शान्तचित्त से व्रत-उपवासादि करते हुए शरीर छोड़ते हैं। वे स्वर्गो मे जाकर इन्द्रादिक की सम्पत्ति को प्राप्त करते है। अब इस श्लोक मे बताते हैं कि वे ही पुण्यात्मा पुरुष स्वर्ग की आयु समाप्त कर बडे बडे पवित्र जगत पूज्य उत्तम कुलों मे अवतार लेकर अनेक उत्तम पुरुषों से पूजे जाते है अर्थात तीर्थंकरादि पद प्राप्त करते है, और कुछ काल पृथिवीमण्डल मे विराजमान रहकर पुण्योदय से उपार्जित अनेक उत्तमोत्तम भोगों को निरन्तर भोगते हुए तथा भक्त पुरुषों को मनोवाञ्छित फल देते हुए, अन्त मे तप करके जगत को एक प्रकार का नाटक सा दिखा कर व अनादि कालीन कार्माण शरीर के सम्बन्ध को भी छोड़ कर परमानन्द मय परमपद को प्राप्त हो जाते है ॥ २५ ॥

श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित ।

समाधि-शतक

मोक्षार्थी पुरुषों को मोक्ष स्वरूप बताने की इच्छा
रखने वाले श्री पूज्यपाद स्वामी प्रारम्भ मे मंगला,
चरण रूप श्री सिद्ध परमेष्ठी का नमस्कार
करते हैं—

येनात्माऽबुध्यतात्मैव, परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयाऽनन्तबोधाय, तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

अन्वयार्थ— (येन आत्मा आत्मा एव अबुध्यत) जिसने आत्मा को आत्मा ही जाना है (च अपरं परत्वेन एव) और पर को पर रूप से ही जाना है (तस्मै अक्षयानन्तबोधाय सिद्धात्मने नम) उस अविनश्वर व अनन्त ज्ञान वाले सिद्ध परमेष्ठी के लिये नमस्कार हो ॥१॥

श्री अरहंत परमेष्ठी को नमस्कार ।

जयन्ति यस्याऽवदतो ऽपि भारती-
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे,
जिनाय तस्म सकलात्मने नमः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अवदतः अपि अनीहितु अपि यस्य तीर्थंकृतः)

तालु, ओष्ठ आदि के द्वारा वचन का उच्चारण नहीं करते हुए भी और जगत के हित की इच्छा न रखते हुए भी जिस तीर्थंकर भगवान की (भारतीविभूतय जयन्ति) वाणी —सब जीवों का हित प्रतिपादरूपीविभूति अथवा समवशरणादि विभूति जय को प्राप्त होती हैं । (तस्मै शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय सकलात्मने नम अस्तु) उस कल्याणरूप, असि, मसि, कृषि आदि के उपदेश द्वारा जगत का उद्धार करने वाले, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने वाले, केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों मे व्यापने वाले, और घातिया कर्मो को जीतने वाले, दिव्य शरीर धारी परमात्मा के लिए नमस्कार हो ॥२॥

ग्रन्थ बनाने की प्रतिज्ञा ।

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

अन्वयार्थ—अब इष्टदेव को नमस्कार करने के अनन्तर (विविक्त आत्मन) कर्ममल रहित आत्मा के स्वरूप को (श्रुतेन लिंगेन समाहितान्त करणेन सम्यक् समीक्ष्य) शास्त्र के द्वारा, हेतु के द्वारा और एकाग्र मन से प्राप्त किये अनुभव के द्वारा सम्यक प्रकार जानकर (कैवल्यसुखस्पृहाणा) सकल कर्म के अभाव रूप कैवल्य पद और अनन्त सुख की इच्छा रखने वालों के लिये (यथात्मशक्ति अभिध्यास्ये) अपनी ज्ञानशक्ति को न छिपाकर कहूगा ॥ ३ ॥

आत्मा के भेद

बहिरन्तः परश्चेति, त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं, मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(सर्व देहिषु बहिः अन्तः च परः इति त्रिधा आत्मा) सर्व जीवों में बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार आत्मा की तीन अवस्था होती है। (तत्र मध्योपायात् बहिः त्यजेत् परम उपेयात्) उनमे अन्तरात्मा को साधनरूप मानकर बहिरात्मा अवस्था को छोड़ना चाहिये और परमात्मा अवस्था को प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ—प्रत्येक संसारी जीव मिथ्यात्व अवस्था मे बहिरात्मा, सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अन्तरात्मा, केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर परमात्मा हो सकता है। अभव्य जीवों में भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्ति रूप से है परन्तु अभव्यों मे इन दोनों अवस्थाओं के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है। यदि ऐसा न माना जायगा तो फिर अभव्यों मे केवलज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध व्यर्थ हो जायगा। सर्वज्ञ मे भी भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा बहिरात्मावस्था व अन्तरात्मावस्था सिद्ध होती है। इन तीनों अवस्थाओं में से जिन संसारी जीवों के बहिरात्मावस्था व्यक्त हो रही है उनको प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर बहिरात्मावस्था को त्याग अपनी अन्तरात्मावस्था व्यक्त करनी चाहिये ॥ ४ ॥

प्रत्येक अवस्था का लक्षण

बहिरात्मा शरीरादौ, जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः, परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

अन्वयार्थ—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्ति बहिरात्मा) शरीर और आदि शब्द से लिये हुए वचन व मन मे उत्पन्न हो रहा है आत्मा का भ्रम जिसको वह बहिरात्मा है (चित्त-दोषात्मविभ्रांतिः अन्तर) और जिसको चित्त के विकल्प रागादिक दोष व आत्मा के स्वरूप के विषय मे कुछ भी भ्रान्ति अर्थात् अज्ञान नहीं है वह अन्तरात्मा है (अतिनिर्मलः परमात्मा) और जिसकी आत्मा अत्यन्त निर्मल हो गई हो वह परमात्मा है ॥ ५ ॥

परमात्मा वाचक नाम

निर्मल केवलाः शुद्धो, विविक्ति प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति, परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(निर्मल) कर्मरहित (केवल) शरीरादि सम्बन्ध रहित (शुद्ध) द्रव्यकर्म व भाव कर्म के नाश हो जाने से परम विशुद्धता युक्त (विविक्त) शरीर और कर्म दोनों से रहित (प्रभु) इन्द्रादिक का स्वामी (अव्यय) प्राप्त हुए अनन्त चतुष्टय से च्युत नहीं होने वाला (परमेष्ठी) इन्द्रादिक से भी वन्दनीक परमपद मे स्थित रहने वाला (परमात्मा) ससारी जीवों से उत्कृष्ट जिसका आत्मा है । (ईश्वर) अन्तरग अनन्त चतुष्टय और बाह्य समवशरणादि ऐश्वर्य से जो युक्त है (जिनः कर्मो को जीतने वाला है इति परमात्मा) इस प्रकार बहुत से परमात्मा के वाचक शब्द होते हैं ॥ ६ ॥

बहिरात्मा की शरीरादिक में आत्म बुद्धि होने का हेतु

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञान-पराङ्मुखः ।

स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाऽध्यवस्यति ॥७॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियद्वारैः बहिर्थग्रहणे' स्फुरित वहिरात्मा आत्मज्ञानपराङ्मुखो 'भवति') इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने मे ही लगे रहने के कारण यह बहिरात्मा आत्मज्ञान से पराङ्मुख रहता है ('ततएव' च आत्मन देह आत्मत्वेन अध्यवस्यति') और इसीलिये अपने शरीर को आत्मा समझता है ॥ ७ ॥

आत्मा मे मनुष्यादिक की कल्पना

नरदेहस्थमात्मान मविद्वान् मन्यते नरम् ।

तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं, सुराङ्गस्थं सुर तथा ॥८॥

नारकं नारकांगस्थं, न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।

अनन्तानन्तधीशक्ति', स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

अन्वयार्थ—(अविद्वान् नरदेहस्थ आत्मानम् नरम्) बहिरात्मा मनुष्य के शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य और (तिर्यङ्गस्थ तिर्यञ्च तथा सुराङ्गस्थं सुर मन्यते) तिर्यञ्च के शरीर मे स्थित आत्मा को तिर्यञ्च तथा देव के शरीर मे स्थित आत्मा देव मानता है ।

(एवमेव नारकागस्थं आत्मान नारकम् मन्यते) इसी प्रकार नारकी के शरीर मे स्थित आत्मा को नारकी मानता है (तत्त्वत स्वय तथा न) परन्तु यह आत्मा परमार्थ से स्वयं ऐसा नहीं है ।

भावार्थ—मनुष्य गति मनुष्य आयु आदिक कर्मो के उदय के

निमित्त से ही जीवों में मनुष्य तिर्यञ्च आदि का व्यवहार होता है। वास्तव में यह जीव कर्म निमित्त बिना स्वय मनुष्यादि रूप नहीं है किन्तु यह वास्तव मे (अनन्तानन्तधीशक्ति स्वसम्वेद्य' अचल-स्थिति) अनन्तानन्त ज्ञान वाला अनन्तान्त बल वाला तथा अपने द्वारा ही जानने योग्य और अपने स्वरूप में ही निश्चल स्थित रहने वाला है ॥ ८ ॥ ९ ॥

पर के शरीर मे परमात्मबुद्धि

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा, परदेहमचेतनम् ।
परात्माधिष्ठितं मूढः, परत्वेनाऽध्यवस्यति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(मूढ स्वदेहसदृशं परात्माधिष्ठित अचेतन परदेह दृष्ट्वा परत्वेन अध्यवस्यति) बहिरात्मा अपने शरीर के समान दूसरों की आत्मा से युक्त दूसरो के अचेतन शरीर को भी दूसरों का आत्मा समझता है अर्थात् बहिरात्मा जैसे अपने शरीर को अपना आत्मा मानता है उसी प्रकार स्त्री पुत्रादिक के शरीर को स्त्री पुत्रादिक का आत्मा मानता है ॥ १० ॥

ऐसा मानने से क्या होता है

स्वपराऽध्यवसायेन, देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्त्तते विभ्रमः पुंसां, पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥

अन्वयार्थ—(अविदितात्मना पुसा देहेषु स्वपराध्यवसायेन पुत्रभार्यादिगोचर विभ्रम वर्त्तते) आत्मस्वरूप को नहीं जानने वाले पुरुषों को अपने और पर के शरीर मे ही अपनी और पर की आत्मा के निश्चय होने से पुत्र स्त्री आदि के विषय मे विभ्रम

होता है। अर्थात् मूढ़ जीव अपने शरीर के साथ स्त्री पुत्रादि के शरीर के सम्बन्ध को ही अपनी आत्मा का सम्बन्ध समझता है और इसीलिये उनको अपना उपकारक समझता है तथा उनके सयाग में सुखी व वियोग मे दु खी होता है ॥ ११ ॥

ऐसे विभ्रम से और क्या होता है

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्व पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

अन्वयार्थ—(तस्मात् अविद्यासज्ञितः दृढ सस्कार जायते) उस विभ्रम से अज्ञानात्मक दृढ सस्कार उत्पन्न हो जाता है (येन लोक' अंगं एव पुन. अपि स्वं अभिमन्यते) जिसके कारण यह ससारी जीव अपने शरीर को ही फिर परलोक मे भी अपना आत्मा मानता है। अर्थात् शरीर को आत्मा मानने का यह मिथ्या सस्कार परलोक मे भी आत्मा के साथ जाता है ॥ १२ ॥

देह मे आत्मबुद्धि होने से और क्या असर होता है।

देहेस्वबुद्धिरात्मन युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येवाऽऽत्मधीस्तस्माद्वियोजयतिदेहिनम् ।१३।

अन्वयार्थ—(देहे स्वबुद्धि निश्चयात् आत्मानं एतेन युनक्ति) शरीर मे आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा, निश्चय से अपनी आत्मा को शरीर से सम्बन्ध करता है (स्वात्मनि एव आत्मधीः तस्मात् देहिनं वियोजयति) और अपनी आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखने वाला सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, अपनी आत्मा को शरीर से

पृथक् करता है। अर्थात् शरीर को आत्मा मानने से आत्मा के साथ नवीन-नवीन शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है जिसके कारण यह मूढ जीव निरन्तर संसार में रुलता है और जब शरीरादि से ममत्व छूट कर आत्मा में ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है तब यह जीव सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है और ध्यानादिक का सतत अभ्यास करके शरीरादिक से सम्बन्ध छुड़ाकर अपने आत्मा को मुक्त कर लेता है॥ १३ ॥

शरीर को आत्मा मानने वाले पर करुणाभाव

देहेष्वात्मधिया जाता पुत्रभार्यादिकल्पना।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हत जगत् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(देहेषु आत्मधिया पुत्रभार्यादिकल्पना जाता) शरीर में आत्मबुद्धि होने से पुत्र, स्त्री आदिक की कल्पना होती है (हा हत जगत् ताभि आत्मन सम्पत्तिं मन्यते) खेद है कि इस प्रकार मोह से अपने असली आनन्द को भूल कर यह मूढ जीव स्त्री पुत्रादिक के द्वारा ही अपने को समृद्धिशाली मानता है। अर्थात् जब तक इस संसारी जीव को मिथ्यात्व के उदय से अपनी अनन्त चतुष्टयरूपी सम्पत्ति का ज्ञान नहीं होता तब तक यह स्त्री पुत्र, धन, धान्यादिक बाह्यपदार्थों को ही अपने मानकर उनमें रमा रहता है और मिथ्या अहंकार वश सुख दु ख मानता रहता है॥१४

बहिरात्मा को अन्तरात्मा होने की शिक्षा।

मूलं संसारदुःखस्य, देह एवात्मधीस्ततः
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(देहे आत्मधी. एव ससार. दुःखस्य मूलं) शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के दुःखों का मूल कारण है (ततः एनां त्यक्त्वा बहिः अव्यापृतेन्द्रियः अन्तः प्रविशेत्) इसलिये शरीर में आत्मबुद्धि को छोड़ कर और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर अन्तरंग मे प्रवेश करना चाहिये

भावार्थ—जितने भी संसार के प्रपंच हैं वे सब इस शरीर के साथ हैं, जब तक जीव इस शरीर को अपना मानता रहेगा तब तक वह ससार के दु खदाई जजाल से कभी नहीं छूट सकता। इसी कारण इस अपूर्व ग्रन्थ मे ग्रन्थकार ने समस्त दुखों की जड़ जो शरीर में आत्मबुद्धि का होना है उसके छुड़ाने के लिये ही अधिक जोर दिया है ॥१५॥

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम् ।

तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(अह पुरा मत्तः च्युत्वा इन्द्रियद्वारैः विषयेषु पतितः) अन्तरात्मा अपनी पहली अवस्था को विचारता है कि मैं अनादिकाल से अब तक व्यर्थ ही अपने स्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों के द्वारा विषयकूप में पड़ा रहा । (तान् अहं इति प्र पद्य तत्त्वत॰ मा न वेद) और उन विषयों को ही अपना स्वरूप समझ कर वास्तव में अपनी आत्मा को आज तक मैंने नहीं पहिचाना ।

भावार्थ—जब तक जीव को अपनी असली रत्नत्रयरूप वा अनन्त चतुष्टयरूप सम्पत्ति का परिज्ञान नहीं होता, तब तक ही वह बाह्य विषयों को सुखदायक समझता है और जब इसे अपने

असली सुधारसका कुछ भी स्वाद आ जाता है तब बाह्य विषय उसे विष सरीखे मालूम पडने लगते हैं। इसी कारण जो जीव प्रथम विषयभोगों को सुख रूप मान कर सेवन करता था वही अब पहले भोगे हुए विषयों पर भी पश्चात्ताप करने लगता है ॥१६॥

आत्मज्ञान का उपाय

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(एव बहिर्वाचं त्यक्त्वा अन्त अशेषत त्यजेत्) आगे के श्लोकों मे कही जाने वाली रीति के अनुमार बाह्य वचन को छोडकर अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन धान्यादिक मेरे हैं इस प्रकार के मिथ्या प्रलाप को त्याग कर, अन्तरग वचन को भी समस्त रूप से छोडना चाहिये, अर्थात् मैं सुखी हूँ दुखी हूँ, दूसरों का गुरु हूँ, व शिष्य हूँ, इस प्रकार के आत्मविषयक विकल्प रूप अन्तरंग वचन को भी छोड़ना चाहिये (एष समासेन योग परमात्मन प्रदीपः) यह सक्षेप से कही हुई बाह्य व अभ्यन्तर के वचन के त्याग रूप, चित्त को विषयों से रोकने वाली समाधि ही वास्तव में परमात्मस्वरूप को प्रकाशने के लिये दीपक के समान है ॥१७॥

बाह्य वचन को छोड़ने का उपाय।

यन्मया दृश्यते रूपं, तन्न जानाति सर्वथा ।

जानन्न दृश्यते रूपं, ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(मया यत् दृश्यते, तत सर्वथा न जानाति) इन्द्रियों के द्वारा मुझे जो शारीरादिकरूपी पदार्थ दिखाई देते हैं,

वे किसी भी पदार्थ को बिल्कुल नहीं जानते (जानत् रूपं दृश्यते न) और जो पदार्थों को जानने वाला चेतनद्रव्य आत्मा है, वह मुझे इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता (तत अहं केन ब्रवीमि) इस लिये मैं बातचीत करूं तो किससे करू ।

भावार्थ—जो अपने अभिप्राय को समझे उसी के साथ बात चीत की जा सकती है, लकड़ी पत्थर आदि जड़ पदार्थों से कोई बचनव्यवहार नहीं करता, इस बात को लेकर अन्तरात्मा अपने मन को समझाता है कि दूसरों का आत्मा तो मुझे दिखाई देता ही नहीं और शरीर दिखाई देता है। वह कुछ जानता नहीं, फिर मैं शरीरादिक जड पदार्थों से क्या बात करूं ? अर्थात् मुझको चुप-चाप रहना ही मुनासिब है । ग्रन्थकार ने इस श्लोक मे वचन-गुप्ति पालने का और बाह्य की झझटों से छूटने का एक उत्तम उपाय बताया है ॥१८॥

अन्तरग वचन को छोड़ने का उपाय

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं, यत्परान् प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(अहं परै यत् प्रतिपादये) मैं अध्यापकों से पढने योग्य हूँ, अथवा मैं शिष्यों को पढाता हूँ, इसी प्रकार और भी मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, राजा हूं, रंक हूँ, इत्यादि अनेक प्रकार के आत्मविषयक संकल्प विकल्पों का जो करना है (तन् मे उन्मत्त-चेष्टितं, यत् अहं निर्विकल्पकः) वह सब मेरी पागलों सरीखी चेष्टा है क्योंकि मैं तो वास्तव में निर्विकल्पक हूँ ।

भावार्थ—जीव का असली स्वरूप इन अनेक प्रकार के वचन-विकल्पों के गोचर वास्तव में न होने पर भी जो यह मूढ़ जीव भ्रम-वश सुखी-दुःखी, राजा-रंक, गुरु-शिष्य, आदि की अनेक मिथ्या कल्पनाये आत्मा में करता रहता है, यही अन्तरग वचन-विकल्प हैं जो कि आत्मा के लिये अत्यन्त दुखदाई हैं, इसलिये अपनी आत्मा को वास्तव मे इन विकल्पों से रहित समझकर इन विकल्पों को छोड़ना चाहिये।

विकल्प रहित आत्मा का असली स्वरूप

यदग्राह्यं न गृह्णाति, गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत् अग्राह्यं न गृह्णाति) जो शुद्ध आत्मा, अग्राह्य रागद्वेषादिक को तो ग्रहण नहीं करता और (गृहीतं न अपि मुञ्चति) ग्रहण किये हुए केवलज्ञानादिक का त्याग नहीं करता किन्तु (सर्वं सर्वथा जानाति) सम्पूर्ण पदार्थोंको सर्व प्रकार से जानता है (अहं तत् स्वसंवेद्य अस्मि) मैं वही अपने द्वारा ही अनुभव में आने योग्य चेतन द्रव्य हूँ।

भावार्थ—जब तक यह आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत सुख, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र आदि अपने असली गुणों को विकसित न करके रागी द्वेषी बना रहता है तब तक यह अशुद्ध कहलाता है और जब राग द्वेषादि विभावों को छोड़ कर अपने असली गुणों को प्राप्त कर लेता है तब सम्पूर्ण पदार्थों का केवल ज्ञाता मात्र रह जाता है। बाह्य पदार्थों

या अपने रागादिक विकारों का कर्त्ता भोक्ता नहीं रहता; और यही जीव का असली स्वरूप है ॥२०॥

आत्मज्ञान होने से पूर्व की चेष्टा

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः, स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं, देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(स्थाणौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः यद्वत् विचेष्टितम्) स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति हो जाने वाले मनुष्य की जैसी चेष्टा होती है (देहादिषु आत्मविभ्रमात् मे पूर्वं तद्वत् चेष्टितम्) शरीरादिक मे आत्मा का भ्रम रहने से, मेरी भी पहले शरीरादिक के विषय मे वैसी ही चेष्टा थी ।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष भ्रम से वृक्ष के ठूंठ को मनुष्य मान कर उसके उपकारादि करने का विचार करने लगता है उसी प्रकार मैं भी भ्रम से, पहले शरीरादिक को आत्मा मान कर उनके उपकारादिक मे लगा हुआ था ॥२१॥

आत्मज्ञान होने के बाद की चेष्टा

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ, निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ, विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(असौ स्थाणौ पुरुषाग्रहे निवृत्ते यथा चेष्टते) यह मनुष्य स्थाणु में पुरुष का भ्रम दूर होने पर जिस प्रकार उपकारादि के त्याग की चेष्टा करता है (देहादौ विनिवृत्तात्म-विभ्रमः तथा चेष्टः अस्मि) शरीरादि में आत्म-भ्रम दूर होने पर मैं भी उसी प्रकार चेष्टा करने लगा हूँ ।

भावार्थ—जब स्थाणु को स्थाणु पहिचान कर उसमें से पुरुष विषयक अज्ञान दूर हो जाता है तब वह ज्ञानी मनुष्य उसके विषय मे उपकारादिक की कल्पना भी छोड़ देता है क्योंकि उपकार करने का विचार स्थाणु को पुरुष मानकर हुआ था। बादमे निश्चय होने पर वह पुरुष निकला नहीं, तब उपकार किसका किया जाता, इसी तरह इस जीव को जब सम्यक्त्व हो जाने से शरीरादि मे आत्म-भ्रम नहीं रहता तब वह हृदय से शरीर के सस्कारादि करने मे भी उपेक्षा करने लगता है ॥२२॥

शुद्ध आत्मा मे स्त्री आदि लिंग और एकत्व आदि सख्या नहीं है।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ, नैको न द्वौ वा बहुः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(येन आत्मा आत्मना आत्मनि एव आत्मना अह अनुभूये) जो मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा अपनी आत्मा मे ही अपने स्वसवेदन ज्ञान करके अपनी आत्मा को अनुभव करता हूँ (सोऽह, न तत्, न सा, न असौ, न एकः, न द्वौ, वा न बहु) वह शुद्धस्व-रूप मैं आत्मा न तो नपु सक हूँ, न स्त्री हूँ , न पुरुष हूँ , न एक रूप हूँ , न दो रूप हूँ , न बहु रूप हूँ।

भावार्थ—जीव मे स्त्री पुरुष आदिक का व्यवहार केवल शरीर के सम्बन्ध को लेकर होता है और एकपने दोपने बहुपने का व्यवहार गुण-गुणी की भेदाभेद विवक्षा को ले कर होता है। शुद्ध आत्म के अनुभव की दशा मे न शरीर की कल्पना है और न भेदा-

भेद की विवक्षा है वहां तो केवल यह आत्मा अपने ज्ञानानंद रस का परम तृप्ति के साथ पान करता रहता है, इस लिये वहां ये बाह्य कल्पना नहीं उठती ॥२३॥

शुद्ध आत्मा का स्वरूप।

यदभावे सुषुप्तोऽहं, यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यदभावे अहं सुषुप्त, पुन यद्भावे व्युत्थितः) जिस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्राप्त न होने से मैं अब तक सोता रहा, और अब जिसके प्राप्त होने से जाग गया हूँ, (अहं तत् अस्मि) मैं उसी शुद्ध स्वरूप वाला हूँ ('तच्च' अतीन्द्रिय, अनिर्देश्य, स्वसंवेद्यं) और वह शुद्ध स्वरूप न इन्द्रियों से जानने योग्य है और न वचन से कहने योग्य है किन्तु अपने आप ही अनुभव मे आने योग्य है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तब तक यह एक प्रकार की अज्ञान-निद्रा मे पड़ा रहता है, और जब अज्ञान का नाश होकर शुद्ध स्वरूप की प्राति हो जाती है तभी यह वास्तव मे जागता हुआ कहलाता है ॥२४॥

शुद्धात्मस्वरूप का संवेदन करने वाले की, आत्मा मे रागादिक का अभाव हो जाने से, शत्रु–मित्र की कल्पना नहीं रहती, अब इसी बात को दिखाते है।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वतः बोधात्मानं मां प्रपश्यतः "मम" अत्र

एव रागाद्याः क्षीयन्ते) वास्तव मे शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करने लगने से इसी जन्म मे रागद्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं। (तत न मे कश्चित् शत्रु न च प्रिय,) इस लिए न कोई मित्र मालूम पड़ता है और न कोई शत्रु दिखाई देता है।

भावार्थ—जब तक इस जीवको अपने चिदानन्दमय सुधारस का स्वाद नहीं आता तब तक यह बाह्य पदार्थोंको अपनी रागद्वेषादि रूपी अग्नि के शमन करने का उपाय समझ, उनकी प्राप्ति के लिये भटकता फिरता रहता है, और अनुकूल सामग्री के बाधक-साधक जीवों को शत्रु-मित्र मानता रहता है, और जब इसको अपने स्वाभाविक सुधारस का स्वाद आने लगता है तब बाह्य पदार्थो मे व उनके साधक-बाधक जीवों मे इसकी उपेक्षा बुद्धि हो जाती है। इस कारण उस समय यह न तो किसी को मित्र समझता और न शत्र मानता है, क्योंकि मित्र की कल्पना राग-द्वेष के कारण होती है और उपेक्षा हो जाने से राग-द्वेष वाह्य पदर्थों मे उसके रहते नहीं ॥२५॥

यद्यपि ऐसी दशा मे अब किसी ने यह प्रश्न किया कि तुम्हारा कोई शत्रु-मित्र नहीं रहता, किन्तु तुमको दूसरे पुरुष तो शत्रु-मित्र मान सकते हैं ? इसी का उत्तर—
स्वात्मसंवेदन वाला इस प्रकार देता है।

मामपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

अन्वयार्थ—(मां अपश्यन् अय लोक, न मे शत्रु न च प्रियः) मेरे स्वरूप को विना जाने यह जगत् मुझे शत्रु अथवा मित्र नहीं

सकता (मां अपश्यन् अयं लोकः न मे शत्रुः न च प्रियः) और मेरे स्वरूप को जान कर भी यह जगत मुझे शत्रु वा मित्र नहीं मान सकता।

भावार्थ—स्वात्मसंवेदी का यह कहना है कि परिचित व्यक्ति में ही शत्रु वा मित्र की कल्पना हुआ करती है अपरिचित मे नहीं होती, इसलिये प्रथम तो ये संसारी जीव मेरे स्वरूप को जानते ही नहीं तब फिर मेरे मे ये शत्रु-मित्र की कल्पना ही क्या कर सकें और कदाचित् यह माना जाय कि जानते हैं तो भी इनको शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव हो जाने से मेरे मे उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तब भी ये मुझ मे शत्रु-मित्र की कल्पना नहीं कर सकेंगे।

बहिरात्मावस्था का त्याग और परमात्मपद की भावना
का उपदेश

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(एव बहिरात्मानं त्यक्त्वा अन्तरात्मव्यवस्थित सर्वसंकल्पवर्जितं परमात्मानं भावयेत्) इस प्रकार पूर्व लिखे कमानुसार बहिरात्मपने का त्याग करके अन्तरात्मा बनना चाहिये और सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों से रहित परमात्मपद की प्राप्ति के लिए भ वना करनी चाहिये ॥ २७ ॥

परमात्मपद की भावना का फल

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

अन्वय—(पुन तस्मिन् भावनया स. अहं इति आत्म-संस्कार) बार २ परमात्मपद की भावना करते रहने से 'वह परमात्मा मैं ही हूं' इस प्रकार का दृढ संस्कार आत्मा मे उत्पन्न हो जाता है (तत्र एवं दृढ़संस्कारात् हि आत्मनि स्थितिं लभते) और परमात्मस्वरूप का दृढ़ संस्कार उत्पन्न होने से यह जीव निश्चय से अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थिर हो जाता है ।

भावार्थ—उक्त प्रकार की दृढ भावना के अभ्यास से जब इस जीव की परमात्मपद के साथ एकत्वबुद्धि हो जाती है तब यह जीव अपने को केवलज्ञानमयी व अनन्तसुख सम्पन्न समझने लगता है, और जब यह अपने को सर्वज्ञ व अनन्त सुखी मानने लगता है, तब छोटे-मोटे काल्पनिक सुख के कारणभूत बाह्य पदार्थों से इसका ममत्व स्वयं छूट जाता है जिसके कारण इसके रागद्वेष मंद होते २ नष्ट हो जाते है और इसको परमात्म पद की प्राप्ति हो जाती है ॥२८॥

यहां किसी का प्रश्न है कि परमात्मा की भावना करना तो बड़ा कठिन है तब फिर जीवों की परमात्म-भावना में प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसका उत्तर रूप श्लोक कहते हैं ।

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

अन्वयार्थ—(मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्त तत अन्यद् भयास्पद न) यह मूढ़ जीव जिन, शरीर, स्त्री पुत्रादिक बाह्य पदार्थों का विश्वास करता है, वे ही सबसे अधिक इसके लिये दु ख के कारण है इनके

समान और कोई इसके लिये दुखःदायी नहीं है (यतः भीतः ततः अन्यद् अभयस्थानं आत्मन न) और जिस परमात्मस्वरूप के सवेदन करने मे यह जीव भय करता है, दुख मानता है; उसके समान और कोई पदार्थ आत्मा के लिये सुखदायी नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्प से काटे हुए पुरुष को कडुवा नीम स्वादिष्ट मालूम देता है उसी तरह विषय-कषायों मे फंसे हुए पुरुष को शरीरादिक बाह्य पदार्थ मनोहर दिखाई देते है और जैसे ज्वर की बीमारी मे उत्तम मिठाई भी अरुचिकर मालूम होती है उसी तरह मूढ़ जीव को परमात्मा का अनुभव करने मे भी कष्ट मालूम होता है, किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो परमात्मानुभव के समान सुख-दायी और शरीरादिक के समान दु खदायी और कोई नहीं है। क्योंकि यह जीव अनादिकाल से अब तक शरीरादिक को आत्मा मान कर तथा परमात्मा का स्वरूप न पहिचान कर ही दु ख भोग रहा है ॥२६॥

परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य, स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति, तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेन अन्तरात्मना क्षणं पश्यतो यत् भाति तत् परमात्मनः तत्त्वम्) सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोक कर स्थिर मन के द्वारा अनुभव करने से जो चिदानन्दमय आत्मस्वरूप प्रतिभास में आता है, वही परमात्मा का असली स्वरूप है।

भावार्थ—परमात्मपद की प्राप्ति के लिये इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोकना चाहिये और मन को परमात्मस्वरूप की भावना में तन्मय करना चाहिये ॥ ३० ॥

परमात्मपद की प्राप्ति के लिये किसकी उपासना करनी चाहिये ?

यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥३१॥

अन्वयार्थ—(य परात्मा, स एव अहं, य अहं स परम.) जो परमात्मा है वही मैं हूँ, अथवा जो मैं हू, वही परमात्मा है (तत. अहं एव मया उपास्य , अन्य. कश्चित् न इति स्थिति) इस लिए मैं ही अपने द्वारा उपासना करने योग्य हूँ अन्य कोई मेरे द्वारा उपास्य नहीं है ।

भावार्थ—सिद्ध परमेष्ठी के समान अपनी आत्मा को भी शुद्ध बुद्ध मानकर जब यह अन्तरात्मा का भेद, भावना करते-करते अपने शुद्ध स्वरूप मे लीन हो जाता है तभी परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है इस लिये मुक्त-पद प्राप्त करने के लिये निश्चय नय से ध्यान करने योग्य या उपासना करने योग्य अपना शुद्धात्मा ही समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

इसी बात को दिखाते हैं ।

प्रच्याव्य विषयेभ्यो ह, मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि, परमानन्दनिर्वृतिम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(अहं मयि स्थितं बोधात्मनं परमानन्दनिर्वृतिं

मां विषयेभ्य: प्रच्याव्य मया एव प्राप्तोऽस्मि) मैंने अपने में ही विराजमान ज्ञान स्वरूप व परमानन्दसम्पन्न अपने आत्मा को विषयों से छुड़ा कर अपने आप ही प्राप्त किया है।

भावार्थ—जिस परमात्म पद या मुक्त पद को यह जीव प्राप्त करना चाहता है वह परमात्मपद शक्ति रूप से इस आत्मा में ही है। और उसके उद्योग से ही इसको प्राप्त हो सकता है। किसी ईश्वर आदि के पास वह संग्रह रूप से मौजूद नहीं है जिसको कि वह प्रसन्न होकर अपने सेवकों को दे सके। दूसरे परमात्माओं से हम केवल इस विषय मे यही लाभ उठा सकते हैं कि अरहंत (जीवनमुक्त) अवस्था में दिये हुए परमात्म पद के साधनभूत उनके उपदेश का मनन करें और जिस ध्यानमुद्रा से उन्होंने परमात्मपद प्राप्त किया है उस दिव्य देह का या उसकी प्रतिबिम्ब का चित्र अपने हृदय पर अंकित करे और बाद में अपनी भी उसी प्रकार की ध्यानमुद्रा बना कर तथा उनके बताये हुए साधनों को उपयोग मे लाकर स्वयं परमात्मपद प्राप्त करें ॥ ३२ ॥

आत्मा को शरीर से भिन्न न जानने से हानि।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं, तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

अन्वयार्थ—(एवं य: अव्ययं आत्मानं देहात् परं न वेत्ति, सः परमं तपः तप्त्वा अपि निर्वाणं न लभते) इस पूर्वोक्त कथनानुसार जो पुरुष अपने अविनश्वर आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानता है वह उग्र तप को करके भी मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकता।

भावार्थ—जो पुरुष आत्मा के असली स्वरूप को न जानकर इस नश्वर शरीर को ही आत्मा मान रहा है वह मुक्ति को भी अन्य बाह्य पदार्थों की तरह विषय-सुख का साधन समझ कर यदि उसकी प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन तप भी करे तो क्या उसको मुक्ति मिल सकती है ? ॥ ३३ ॥

यहाँ किसी की शका है कि मुक्ति के लिये तो बडे २ कठिन तप बताये हैं और कठिन तप करने से चित्त मे खेद होता है तब फिर तप करने से मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? उत्तर—

आत्म-देहान्तर-ज्ञान-जनिताल्हाद-निर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं, भुञ्जानोऽपि न खिद्यतेः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृत तपसा घोरं दुष्कृत भुञ्जान अपि न खिद्यत) जो पुरुष आत्मा और शरीर के भेद ज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द मे मग्न हो रहा है वह तप के द्वारा उदय मे लाये हुए दु खदाई से दु खदाई कर्मों के फल को भोगते हुए भी दु खी नहीं होता है ।

भावार्थ—जिस समय इस जीव के अनुभव मे आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं उस समय इसकी समस्त चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं क्योंकि जितने भर भी संसार के दु ख है वे सब शरीर को अपना जानने से ही होते है । भूख, प्यास, रोग, शोक व जीने-मरने के दु ख शत्रु, सर्प आदि का भय, गर्मी—सर्दी की बाधा, इन्द्रियों के विषय की चाह आदि की अनेक भयकर से भयंकर आपत्तियाँ इस जीव को शरीर के सम्बन्ध से ही उठानी

पड़ती है, इसलिए जिस समय इस शरीर को भी यह आत्मा भिन्न समझ लेता है उस समय इन सब आपत्तियों से छूट जाने के कारण इस जीव को एक अलौकिक आनन्द प्राप्त हो जाता है, और अपनी इस परमसुखदायनी भेद-भावना की दृढ़ता के लिए उस दशा मे यह जीव कायक्लेशादि तप करके शरीर को जान-जान कर कृश करता है और सफलता पाने पर आनन्द मानता है, इसी कारण उसे तप करते हुए खेद नहीं होता ।। ३४ ।।

इसी कथन की पुष्टि

राग-द्वेषादि-कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्व नेतरो जन ।।३५।।

अन्वयार्थ (रागद्वेषादिकल्लोलै यन्मनोजल अलोलं स आत्मन तत्त्व पश्यति, तत् तत्त्वं इतर जन. न) राग-द्वेष आदिक कल्लोलो करके जिसका मनरूपी जल चचल नहीं है वही पुरुष आत्मा के स्वरूप को जान सकता है, इस आत्म-स्वरूप को रागी द्वेषी पुरुष नहीं पहिचान सकता ।

भावार्थ—अनादि काल से यह जीव शरीरादि बाह्य पदार्थो मे आत्म-बुद्धि किये हुए है और ये बाह्य पदार्थ आत्मस्वरूप न होने के कारण कर्मानुसार बाह्य निमित्त को लेकर मिलते बिछुड़ते रहते हैं, इस लिए जिस बाह्य निमित्त से अनुकूल विषयों की प्राप्ति होती है उसमे राग और जिसके निमित्त से इष्ट वस्तु का विच्छेद व प्रतिकूल वस्तु का सम्बन्ध होता है उससे यह जीव द्वेष करता है और इस राग-द्वेष रूपी अग्नि से निरन्तर दग्ध रह

कर अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को नहीं पहिचानता। इसलिये आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष का नाश करना सबसे आवश्यक है जो पुरुष इनका नाश कर देता है वह परमात्म पद पा सकता है जो नहीं करता वह नहीं पा सकता।

वह आत्मा का स्वरूप क्या है ?

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं, विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं, विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥

अन्वयार्थ—(अविक्षिप्त मनः आत्मन तत्त्वं, विक्षिप्त भ्रान्ति) अविक्षिप्त अर्थात् रागादिरहित तथा देह व आत्मा के अभेद ज्ञान से शून्य अपने शुद्ध स्वरूप मे निश्चल जो मन है वही आत्मा का स्वरूप है। इसके विरुद्ध जो विक्षिप्त अर्थात् रागादि परिणत वा देह आत्मा को एक जानने वाला भ्रान्त मन है वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। (तत. अविक्षिप्तं तत् धारयेत् विक्षिप्तं न आश्रयेत् इसलिए अविक्षिप्त मन को धारण करना चाहिये और विक्षिप्त मन का आश्रय नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—उपयोग रूप जो भाव मन है वह ज्ञानात्मक होने से आत्मा का ही स्वरूप है। जिस समय वह ज्ञानस्वरूप भाव-मन रागादि रहित होकर शरीरादि बाह्य पदार्थों को आत्मा से भिन्न अनुभव करने लगता है तथा आत्म-ध्यान में तन्मय हो जाता है उस समय उस मन को आत्मा का निज स्वरूप समझना चाहिये और रागादि युक्त भावमन को ज्ञानस्वरूप होते हुये भी विकारी होने के कारण आत्मा का निज स्वरूप नहीं मानना

चाहिये। इसलिये श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है कि मनमेंसे रागादि विक्षेपों को दूर करके उसको शुद्ध करना चाहिये ॥३६॥

मनमें विक्षेप क्यों होता है ?

अविद्याऽभ्यास-संस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञान-संस्कारैः, स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससंस्कारै. मनः अवशं क्षिप्यते) शरीरादिक को आत्मरूप जानने वाले अज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न हुए मलिन सस्कारों के द्वारा मन, आत्मा के वश में न रह कर विक्षेप को प्राप्त हो जाता है। (तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वत. तत्त्वे अवतिष्ठते) और वही मन भेदज्ञान से उत्पन्न हुए उत्तम संस्कारों के द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूप मे स्थिर हो जाता है ॥३७॥

विक्षेप व अविक्षेप से क्या फल होता है ?

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

अन्वयार्थ—(यस्य चेतस' विक्षेप' तस्य अपमानादयः) जिसके मन में विक्षेप होता है उसी के चित्त में मान-अपमान आदि की कल्पना होती है। (यस्य चेतस. क्षेपः न तस्य अपमाना-दयः न) और जिसके मन मे विक्षेप नहीं होता उसका अपमानादि की तरफ ध्यान भी नहीं जाता।

भावार्थ—जब तक हमारे मन में मान-अपमान से हर्ष-विषाद होता है तब तक समझना चाहिए कि राग-द्वेषादि कषायों ने हमारे मन को विक्षिप्त कर रक्खा है, और जब मान-अपमान

आदि की कल्पना हृदय से निकल जाती है उस समय मन को इन विक्षेपों से रहित मानना चाहिये ॥ ३८ ॥

अपमानादिक के दूर करने का उपाय

यदा मोहात्प्रजायेते, राग-द्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यदा तपस्विन मोहात् राग-द्वेषौ प्रजायेते, तदा एव स्वस्थ आत्मान भावयेत्, क्षणात् शाम्यत) जिस समय किसी तपस्वी मुनि के हृदय मे मोह के उदय से राग-द्वेष उत्पन्न हो जावें उस समय उसको अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये, इस प्रकार बार बार आत्मस्वरूप की भावना करने से ही राग-द्वेष क्षण भर मे शात हो जावेगे ।

भावार्थ—ये राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक एक प्रकार के मानसिक रोग हैं जो कि अज्ञान के द्वारा शरीर, स्त्री, पुत्रादिकों को आत्मरूप मानने से तथा पचेन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति-अप्राप्ति से उत्पन्न होते हैं, शुद्ध आत्मस्वरूप का चिंतवन करना ही इनको निर्मूल करने के लिये एक मात्र रामवाण औषधि है । इन रोगों का निदान (मूल कारण) आत्मस्वरूप का अज्ञान है । इसलिये इस अज्ञान का नाश किये बिना इन रोगों की जड़ नहीं जा सकती ॥ ३९ ॥

राग-द्वेष का विषय व उनका विपक्ष दिखाते हैं —

यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये, योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अन्वयार्थ—(यत्र काये मुने. प्रेम, बुद्ध्या ततः देहिनं प्रच्याव्य तत् उत्तमे काये योजयेत्, प्रेम नश्यति) जिस शरीर में तथा इन्द्रियों के विषयों में मुनि का प्रेम है, अर्थात् आत्मबुद्धि हो रही है, विवेकज्ञान के द्वारा उन शरीरादिकों से आत्मा को पृथक् करके उस प्रेम को चिदानन्दमय उत्तम आत्मरूपी काय में लगाने से बाह्य विषयों का प्रेम नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने ज्ञानानन्दमय परम मनोहर उपवन मे क्रीड़ा करने का अवसर प्राप्त नहीं होता तब तक यह अत्यन्त घृणित स्त्री आदि के शरीर व अन्य पंचेन्द्रियों के विषयों में ही लुभाया रहता है तथा अपने मल—मूत्र व अस्थि पंजर के पिंड रूप शरीर को ही बार-बार देख कर प्रसन्न होता रहता है। यदि यह जीव किसी प्रकार अपने दर्शनमोहादिक का उपशम करके अपने शात सुधारस का एक बार भी स्वाद ले ले तो इसकी इन बाह्य विषयों मे कदापि रुचि न रहे और बहुत काल तक इसे जगत-जाल मे फँसना न पडे ॥ ४० ॥

इस भ्रमात्मक प्रेम के नाश होने से क्या होता है?

आत्म-विभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।

नायतास्तत्र निर्वान्ति, कृत्वाऽपि परमं तपः ॥४१॥

अन्वयार्थ—(आत्मविभ्रमजं दुःख आत्मज्ञानात् प्रशाम्यति) शरीरादिक मे आत्मा का भ्रम होने से जो दुःख होता है वह आत्मज्ञान होने से नष्ट हो जाता है। (तत्र अयता परम तपः अपि कृत्वा न निर्वान्ति) इसलिए जो पुरुष आत्मस्वरूप के

ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्न नहीं करते वे दुर्धर तप को करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते।

भावार्थ—मुक्तिप्राप्ति के लिए आत्म-ज्ञान की प्राप्ति पूर्वक किया हुआ तप ही कायकारी है। इसके विरुद्ध आत्मा व उसमें उत्पन्न हुए रागादिक विकारों के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने जो पुरुष विवेकशून्य पंचाग्नि आदिक तप करते हैं वे उसी प्रकार नासमझ समझे जाते है जिस प्रकार कि बुखार की बीमारी मे बवासीर की दवा खाने वाले बेवकूफ माने जाते हैं॥ ४१॥

शरीरादिक को आत्मा मानने वाला तप करके क्या फल चाहता है?

शुभं शरीरं दिव्यांश्च, विषयानभिवाञ्छति।

उत्पन्नात्ममतिर्देहे, तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥४२॥

अन्वयार्थ—(देहे उत्पन्नात्ममति. शुभं शरीरं च दिव्यान् विषयान् अभिवाञ्छति) शरीर मे जिसको आत्म-बुद्धि हो रही है वह पुरुष तप करके देवों के सुन्दर शरीर को व स्वर्गों के दिव्य विषयों को ही चाहता है, (तत्त्वज्ञानी ततः च्युतिम्) और जो तत्त्वज्ञानी है वह ऐसे शरीर व विषयों से भी छूटना चाहता है।

भावार्थ—बहिरात्मा स्वर्गादिक के मिलने को ही परम पद की प्राप्ति समझता है इसलिये केवल स्वर्गादिक की लालसा से ही पंचाग्नि आदि तप के द्वारा कायक्लेश करता है और जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान जाता है उसको स्वर्गों के विषय-भोग भी अन्य विषयों की तरह दुःखदाई मालूम पड़ते हैं। इसलिये वह

सम्यग्दृष्टि पुरुष उन स्वर्गादिक के विषयों की इच्छा न करके परमानन्दमय मोक्षपद की इच्छा रखता है ॥ ४२ ॥

किसको कर्म-बन्ध होता है और किसको नहीं होता ?

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।

स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा, परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

भावार्थ—(परत्र अहम्मतिः स्वस्मात् च्युतः असंशयं बध्नाति) जिसको शरीरादिक पर पदार्थों में आत्मबुद्धि हो रही है वह अपने स्वरूप से च्युत रहकर निःसन्देह ज्ञानावरणादिक कर्मों का बन्ध करता है (स्वस्मिन् अहम्मति बुध परस्मात् च्युत्वा मुच्यते) और जिसको आत्मा में ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है वह ज्ञानी अन्तरात्मा शरीरादि के सम्बन्ध से छूट कर मुक्त हो जाता है ॥४३॥

बहिरात्मा किसको आत्मा मानता है व अन्तरात्मा किसको ?

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।

इदमित्यवबुद्धस्तु, निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

अन्वयार्थ—(मूढ दृश्यमानं त्रिलिंगं इदं अवबुध्यते) मूढ बहिरात्मा इस त्रिलिंगात्मक शरीर को ही आत्मा मानता है (अवबुद्ध शब्दवर्जितं तु निष्पन्नं इदं इति अवबुध्यते) और ज्ञानी अन्तरात्मा नामादि विकल्पों से रहित अनादि सिद्ध आत्मा का ही आत्मा मानता है ॥ ४४ ॥

यदि अन्तरात्मा आत्मा को ही आत्मा मानता है तो फिर, वह अपने को बाह्य पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता क्यों मानता है ?

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं, विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद्, भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मन तत्त्वं जानन् अपि, विविक्तं भावयन् अपि) अविरत सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, आत्मा के स्वरूप को जानते हुए भी तथा अन्य पदार्थो से भिन्न आत्मा की भावना करते हुए भी (पूर्वविभ्रमसस्कारात् भूय अपि भ्रातिं गच्छति) पूर्व बहिरात्मावस्था के भ्रामक सस्कारों के कारण फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—अविरत सम्यग्यदृष्टि अन्तरात्मा को यद्यपि विचार काल मे बाह्य पदार्थो के कर्त्ता-भोक्ता पने का भ्रम नहीं होता तथापि अनादि काल से सतत अभ्यास में आये हुए मिथ्यात्व जन्य संस्कारों के असर से साधारण अविचारित कार्यो में उसको कदाचित् कर्त्ता-भोक्तापने का व्यामोह भी हो जाता है इसी कारण उसके ज्ञानचेतना (शुद्धात्मा का अनुभव) के सिवाय कर्मचेतना (कर्त्तापने का अनुभव) व कर्मफलचेतना (भोक्तापने का अनुभव) भी मानी गई है ॥ ४५ ॥

इन भ्रामक संस्कारो के दूर करने का क्या उपाय है ?

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि, मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ।४६।

अन्वयार्थ—(इद दृश्यं अचेतन, चेतनं अदृश्यं ततः क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि) अन्तरात्मा को निरन्तर यह विचारते रहना चाहिए कि यह जितना भी दृष्टिगोचर जगत है, वह सब अचेतन

है और जो चेतन है वह दृष्टिगोचर नहीं है। इस लिये मैं किस पर तो रोष (क्रोध) करूँ और किस पर सन्तोष करूँ? अर्थात् किसी से भी राग द्वेष न करके (अत अहं मध्यस्थ· भवामि) मुझे मध्यस्थ रहना ही उचित है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि-अन्तरात्मा को पूव में कहे हुए कर्त्ता-भोक्तापने आदि के अनेक मिथ्या भ्रामक संस्कारों को दूर करने के लिए निरन्तर यह बिचार करते रहना चाहिए कि जिन बाह्य पदार्थों का मैं अपने को कर्त्ता व भोक्ता मानता हूँ, अथवा जिनको देख कर क्रोधादि करता हूँ, वे सब पदार्थ जड़रूप हैं, मेरे स्वरूप से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे जड़ पदार्थों पर रोष करना व सन्तोष करना मुझे कदापि उचित नही है, इसलिए इन सब बाह्य पदार्थों पर माध्यस्थ्य भाव रखना ही योग्य है ॥ ४६ ॥

बहिरात्मा व अन्तरात्मा किस-किस वस्तु का त्याग व ग्रहण करते है।

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(मूढ· बहि· त्यागादाने करोति, आत्मवित अध्यात्म) मूढ़ बहिरात्मा द्वेष के उदय से बाह्य अनिष्ट पदार्थों का त्याग करता है और राग के उदय से बाह्य इष्ट पदार्थों का ग्रहण करता है तथा आत्मस्वरूप का जानने वाला अन्तरात्मा अन्तरग राग-द्वेष आदिक का त्याग करता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र आदि निज भावों का ग्रहण करता है।

(निष्ठितात्मनः अन्तः बहिः न त्यागः न उपादानं) और अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य सर्वज्ञ परमात्मा है वह न बाह्य आभ्यन्तर किसी पदार्थ का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण करता है।

भावार्थ—परमात्मा बाह्य पदार्थों का त्याग—ग्रहण तो पहले अन्तरात्म अवस्था में ही छोड़ देता है और रागादिक अन्तरंग कषायों का त्याग व केवल ज्ञानादिक निज गुणों के ग्रहण करने से ही वह परमात्म-पद प्राप्त करता है। इसलिए उसे अब कुछ त्यागना व ग्रहण करना बाकी नहीं रहता॥ ४७॥

अन्तरात्मा को अन्तरंग रागादिक का त्याग व सम्यग्ज्ञानादिक का ग्रहण किस प्रकार करना चाहिए?

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं, वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु, त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥४८॥

अन्वयार्थ—(आत्मानं मनसा युञ्जीत, वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्) आत्मा को मानस ज्ञान के साथ तो तन्मय करना चाहिए और वचन व काय की क्रियाओं से रोकना चाहिए। (वाक्काययोजितं व्यवहारं तु मनसा त्यजेत्) और वचन व काय से किये हुए कार्य को भी मन से चिंतवन न करे।

भावार्थ—रागादिक के त्यागने व सम्यग्ज्ञानादिक के प्राप्त करने के लिए अन्तरात्मा को वचन व काय की क्रियायें छोडते जाना चाहिये, और मन के द्वारा निरन्तर आत्म-चिन्तन करते रहना चाहिए। तथा वचन व काय की कोई आवश्यक क्रिया यदि करनी भी पड़े तो उसमें मन नहीं लगाना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि स्त्री-पुत्रादिक के साथ
तो काय की चेष्टा व वचनालाप करते समय सुख
होता है तब फिर वचन-काय के व्यापार
त्यागने से क्या लाभ है?

उत्तर:—

जगद्देहात्मदृष्टीनां, विश्वस्यं रम्यमेव वा।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टीनां जगत् विश्वास्यं रम्यं एव वा) शरीर में आत्मदृष्टि रखने वाले बहिरात्मा जीवों को यह स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिक का समूह रूप संसार विश्वास-पात्र व मनोहर मालूम देता है, (स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीना क्व विश्वास· क्व वा रति) किन्तु आत्मा मे ही आत्मदृष्टि रखने वाले वाले ज्ञानी पुरुषों को इस प्रपंचरूप संसार मे न विश्वास होता है और न रति ही होती है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होकर देह आदिक पर पदार्थों मे आत्मबुद्धि बनी रहती है तभी तक उसे बाह्य पदार्थ मनोहर मालूम देते हैं, अथवा उसको उनमें विश्वास रहता है और जब उस पुरुष को स्वपर का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तब उसे नजानन्द को छोड़कर बाह्य पदार्थों में रमने की कदापि इच्छा नहीं होता, बाह्य विषय उसे एक नीरस व दुखद मालूम देने लगते हैं।

अन्तरात्मा क मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कैसी रखनी चाहिये?

आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(आत्मज्ञानात परं कार्यं बुद्धौ चिरं न धारयेत्) आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्यों को बहुत काल तक बुद्धि में धारण नहीं करना चाहिये। (अर्थवशात् किंचित् वाक्कायाभ्यां अतत्पर कुर्यात्) प्रयोजन वश यदि बाह्य कार्य कुछ करने हों तो उन्हें केवल वचन काय से करने चाहिये, उनमें मन से आसक्त नहीं होना चाहिये।

भावार्थ—मोक्षके इच्छुक ज्ञानी पुरुषों को अपना मुख्य लक्ष्य तो आत्मोद्धार ही रखना चाहिए, मानसिक उपयोग को बाह्य कार्यों में न लगाकर निरन्तर आत्महित के कार्यों मे ही लगाना चाहिये और अपने व पर के उपकार वश यदि कुछ बाह्य कार्य करने भी पड़ें तो उनमें विशेष उपयोग न लगा कर आवश्यक समझ, वचन व काय से कर देना चाहिये ॥५०॥

अन्तरात्मा बाह्य विषयों मे आसक्त न होकर आत्मस्वरूप के विषय मे क्या विचारता है?

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे, नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं, तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(यत् इन्द्रियैः पश्यामि तत् मे नास्ति) जिस शरीरादिक को मैं इन्द्रियों के द्वारा देखता हूं। वह मेरा स्वरूप नहीं है। (नियतेन्द्रिय यत् उत्तम ज्योतिः सानंदं अन्तः पश्यामि तत

अस्तु) इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जिस परमानन्दम अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप उत्तम ज्योति को मैं अन्तरंग में देखता हूँ, वही वास्तव में मेरा स्वरूप है।

भावार्थ—जब बाह्य विषयों से उपेक्षा कर अन्तरात्मा आत्म-स्वरूप के चिंतवन मे तन्मय हो जाता है। उस समय उसको परमानन्दमयी आत्म ज्योति साक्षात् सरीखी प्रति भासित होने लगती है। और वह अपने उसी चिदानन्दानुभव मे मग्न रहने लगता है। बाह्य विषयों की निकटता होने पर भी उनकी तरफ उसका ध्यान नहीं जाता ॥५१॥

यदि परमानन्दमयी ज्योति आत्मा का निज स्वरूप है तो उसका अनुभव करते समय कष्ट क्यों होता है ?

सुखमारब्धयोगस्य, बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्म भावितात्मन ॥५२॥

अन्वयार्थ—(आरब्धयोगस्य बहि सुखं अथ आत्मनि दु ख) जो पुरुष आत्मस्वरूप को भावना करना प्रथम ही प्रारम्भ करता है उसे प्राचीन सस्कारों के कारण बाह्य विषयों में सुख और आत्मविचार में दुख मालूम होता है। (भावितात्मन बहि. एव असुखं अध्यत्मं सौख्यं) और जिसको निरन्तर भावना करते रहने से आत्मस्वरूप का प्रतिभास हो जाता है। उसे बाह्य विषयों में दुख और आत्मचिंतवन मे सुख होने लगता है।

भावार्थ—आत्मचिंतवन करना प्रारम्भ कर देने पर भी जब तक भावना करने वाले को आत्मस्वरूप की पहिचान नहीं होती

तब तक उसे आत्मिक आनन्द न आने से बाह्य विषय मनोहर जान पड़ते हैं। तथा आत्मविचार करना एक प्रकार की झंझट दिखाई देती है। और जब उसे अभूतपूर्व परमानन्दमय आत्म-स्वरूप का अनुभव होने लगता है तब वह उसमे ऐसा मग्न होता है कि उसे बाह्य विषय, विष सरीखे मालूम देने लगते हैं। जैसे कोई पुरुष जन्म से ही अपने पास के खारे कुए का पानी पीता रहा हो और उसको कुछ दूर से निर्मल शीतल मिष्ट जल के कुए का पानी लाकर पीने को कहा जाय तो जाते समय उसे खेद होने के कारण अपना खारी कुवा ही अच्छा मालूम देगा। क्यों कि पास के खारी कुवें पर जाते समय मार्ग की धूप सहनी नहीं पडेगी। किन्तु जब वह दूर वाले कुए के निर्मल-शीतल-स्वादिष्ट जल को पीवेगा, तब उसे अपने पास का खारा कुवां बहुत बुरा मालूम देने लगेगा और मार्ग की थकावट को वह भूल जायगा ॥५३॥

आत्मस्वरूप की भावना किस प्रकार करनी चाहिये ?

तद् ब्र यात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूप, त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(तद्ब्रूयात्, तत् परान् पृच्छेत् तत् इच्छेत तत्परो भवेत्) आत्मस्वरूप की ही बात दूसरों से कहनी चाहिये, आत्मस्वरूप को ही दूसरों से पूछना चाहिये, उसी आत्मस्वरूप की प्राप्ति की निरन्तर इच्छा रखनी चाहिये, और आत्म-स्वरूपके चिंतवन में ही प्रति समय तन्मय रहना चाहिये। (येन अविद्या-

मयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं भवेत्) जिससे कि अज्ञानमय अवस्था छूट कर ज्ञानमय-आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होवे।

भावार्थ—जैसे किसी धनिक वृद्ध पुरुष का अत्यन्त प्रेमपात्र एकमात्र विवाहित पुत्र बिना कहे परदेश चला जावें तो वह वृद्ध पुरुष जिससे बात करने का अवसर मिलता है तो अपने पुत्र की ही बात करता है, किसीसे कुछ पूछता है तो अपने पुत्र के आने की ही बात पूछता है। यदि किसी वस्तु की इच्छा करता है तो एक मात्र अपने पुत्र के आने की ही इच्छा करता है। यदि किसी का चिंतवन भी करता है तो उसी अपने प्रेमपात्र पुत्र का करता है। सारांश यह है कि जैसे उस वृद्धपुरुष के चित्त से उसका पुत्र किसी क्षण भी पृथक् नहीं होता, उसी प्रकार आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये निरन्तर चेष्टा करनी चाहिए।

अज्ञानी और ज्ञानी आत्मा किसको मानते हैं?

शरीरे वाचि चात्मानं, संधत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं, पृथगेषां विबुध्यते ॥५४॥

अन्वयार्थ—(वाक्शरीरयो· भ्रान्तः शरीरे वाचि च आत्मानं संधत्ते) वचन और शरीर के वास्तविक स्वरूप को न जानने वाला भ्रान्त बहिरात्मा शरीर और वचन को ही आत्मा जानता है। (अभ्रान्त. पुनः एषां तत्त्वं पृथक् विबुध्यते) और ज्ञानी पुरुष शरीर, वचन व आत्मा के स्वरूप को पृथक् २ जानता है। शरीरादिक को आत्मा मानने वाला बहिरात्मा जिन बाह्य विषयों में आसक्त हो रहा है, वे इसके हितकारक नहीं हैं।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु, यत् क्षेमंकरमात्मनः।

तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु तत् न अस्ति यत् आत्मन. क्षेमंकर) पांच इंद्रियों के विषयों में ऐसी कोई भी विशेषता नहीं है जिससे कि आत्मा का कुछ भला हो सके। (तथापि बाल' अज्ञानभावनात् तत्र एव रमते) खेद है। कि यह ससारी जीव तो भी अज्ञानवश उन विषयों मे ही रमता है।

भावार्थ—सब तरह से हानिकारक, अनित्य, ज्ञानी पुरुषों के द्वारा निषिद्ध, इन्द्रियों के विषयों मे भी जो इस जीव को आनन्द आने लगता है वह सब अज्ञान की ही महिमा है।

अनादिकालीन मिथ्यात्ववश जीव क्या करते हैं ?

चिरं सुषुप्तास्तमसि, मूढात्मानः कुयोनिषु।

अनात्मीयात्मभूतेषु, ममाहमिति जागृति ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मान तमसि कुयोनिषु चिरं सुषुप्ता) ये मूढ ससारी जीव मिथ्यात्व के उदयवश अनादि कालसे तो निगोदादिक कुयोनियों में निवास कर रहे हैं, अर्थात् अचेत पड़े सो रहे हैं। अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहं इति जागृति) यदि कदाचित् कर्मोदय से ये जीव मन सहित सज्ञी भी हो जाते हैं तो मानसिक संकल्प विकल्पों के द्वारा प्रत्यक्षभिन्न स्त्रीपुत्रादिक सम्बन्धियों को भी अपने मानकर अनेक प्रकार के प्रपंच मे पड़े रहते हैं।

भावार्थ—निगोदादिक पर्यायों में तो ज्ञानकी अत्यन्त न्यूनता

से यह जीव अनेक दुःख भोगता ही है किन्तु पहली पर्यायों से विशेष ज्ञानवान मनसहित पंचेन्द्रिय होने पर भी रागद्वेषमोहवश दूसरों को अपने मान दुःखी ही रहता है।

बहिरात्मावस्था को त्याग कर अपने व पर के शरीर को इस प्रकार मानना चाहिये।

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥५७॥

अन्वयार्थ—(आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः आत्मन देहं निरंतरं अनात्मचेतसा पश्येत्) आत्मस्वरूप में स्थित होकर अपने शरीर को निरंतर अपने से भिन्न समझना चाहिये। (अन्येषा अपरात्मधिया) और स्त्री पुत्रादिक दूसरे जीवों के शरीर को उनकी आत्मा से भिन्न मानना चाहिये।

भावार्थ—देह के साथ आत्मा की अभेदबुद्धि अनादिकाल से हो रही है। निरंतर उत्तम २ उपदेशों के मिलने पर भी इस व्यामोह का मिटना कष्टसाध्य समझकर ग्रंथकार बार २ अनेक प्रकार से इसी बात को दिखाते है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जैसे अपने वास्तविक स्वरूप को स्वयं जानना चाहिये, वैसे ही दूसरों को भी बताना चाहिये या नहीं ? उत्तर—

अज्ञापितं न जानन्ति, यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां, वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मानः यथा मां अज्ञापितं न जानन्ति तथा ज्ञापितं) तत्त्वज्ञानी अंतरात्मा कहता है—अपने मन को समझाता है कि जैसे ये मूढ़ अज्ञानी जीव मेरे स्वरूप को बिना बताये नहीं जानते, वैसे ही बताने से भी नहीं जान सकेंगे। (ततः तेषां ज्ञापन-श्रम' मे वृथा) इसलिये उनके बोध कराने के लिये जो मेरा श्रम करना है, वह वृथा है।

भावार्थ—बहुत से ज्ञानी पुरुष दूसरों को उपदेश करने में इतने व्यग्र हो जाते हैं कि उपदेश न मानने पर अधीर हो उठते हैं और वस्तुस्वरूप को भूल कर सुनने वालों से कषाय करने लगते हैं। जिसके कारण वे दूसरों के हित करने के भ्रम में पड़कर अपना अहित कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों के प्रतिबोध के लिये ही यह उपर्युक्त श्लोक ग्रंथकार ने लिखा है। जिसके लिखने का यह आशय है कि परोपदेश की प्रवृत्ति का होना ज्ञानी जीवों को शुभ कषाय रूप समझना चाहिये और अपनी शुद्ध परिणति को प्राप्त करने की योग्यता होते समय इसको भी बाधक ही समझना चाहिये। इस शुभ प्रवृत्ति के व्यामोह में पड़ कर आत्महित को कदापि नहीं भूलना चाहिये।

इसी बातको दूसरी तरह से कहते हैं—

यद्बोधयितुमिच्छामि, तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य, तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

अन्वयार्थ—(यद्बोधयितुं इच्छामि तत् न अहं, पुनः यत् अहं तत् अपि अन्यस्य ग्राह्यं तत अन्यस्य किं बोधये) जिस देहादिक

के स्वरूप को मैं संसारी जीवों को सुनाना चाहता हूँ अथवा वे सुनना चाहते हैं वे देहादिक तो मेरे स्वरूप नहीं हैं और जो मेरा वास्तविक परमानन्दमय स्वरूप है उसको ये मूढ जीव जान नहीं सकते, इसलिये अब मैं इनको क्या समझाऊं।

भावार्थ—ज्ञानी अंतरात्मा परोपदेश करने की अनुचित लालसा व व्यग्रता से छूटने के लिये फिर अपनी आत्मा को समझाता है कि हे आत्मन्! यदि तू इन संसारी जीवों को उपदेश भी देगा तो शरीरादिक जड़ पदार्थों के विषय मे अथवा संसार दशा के विषय में दे सकता है। क्योंकि आत्मा का शुद्ध स्वरूप तो एक प्रकार से वचन द्वारा कहा भी नहीं जा सकता और इन्द्रियों से सुनकर ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और संसार के दुःखों का व शरीरादिक का अनुभव इन जीवों को स्वयं ही हो रहा है फिर तू इनको उपदेश देने के झंझट में पड़कर व उपदेश न मानने से खिन्न होकर व्यर्थ ही आकुलित क्यों होता है।

बहिरात्मा व अंतरात्मा किसमें सन्तुष्ट होते हैं?

बहिस्तुष्यति मूढात्मा, पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा, बहिर्व्यावृत्तकौतुकः॥६०॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मा अन्तरे पिहितज्योतिः बहिः तुष्यति) मोह करके जिसकी अंतरंग ज्ञानज्योति आच्छादित हो रही है वह मूढ़ बहिरात्मा शरीरादिक बाह्य विषयों में ही सन्तुष्ट रहता है। (बहिर्व्यावृत्तकौतुकः प्रबुद्धात्मा अन्तः तुष्यति) और जिसका बाह्य विषयों में अनुराग नहीं रहा, वह ज्ञानी अंतरात्मा अपने अंतरंग आत्म-स्वरूप में ही सन्तुष्ट होता है।

तत्त्वज्ञानी बहिरात्मा की दशा पर विचार करता है।

न जानन्ति शरीराणि, सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहाऽनुग्रहधियं, तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ—(शरीराणि सुखदुःखानि न जानन्ति) यद्यपि औदारिकादिक शरीर जड़रूप होने से सुख-दुःख को नहीं जानते (तथापि अबुद्धय अत्रैव निग्रहानुग्रहधियं कुर्वते) तो भी मूढ़ बहिरात्मा इन शरीरों में राग-द्वेष करता है और द्वेषवश भूखा मर करके शरीर को दुःख देना चाहता है तथा राग वश अनेक प्रकार के भूषण-वस्त्र पहिनकर शरीर को सुखी करना चाहता है।

भावार्थ—अंतरात्मा विचारता है कि देखो, ये संसारी प्राणी कितने मूढ़ हैं कि जो शरीर जडरूप है उसको भी राग-द्वेष-वश सुखी-दुखी करने की चेष्टा करते हैं।

संसार व मोक्ष कब होता है?

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात्काय-वाक्-चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां, भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

अन्वयार्थ—(काय-वाक्-चेतसां त्रयं यावत् स्वबुद्धया गृह्णीयात् तावत्संसारः) जब तक मन-वचन कायका आत्मबुद्धिसे ग्रहण किया जायगा, तब तक ही संसार समझना चाहिये। (एतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः) और इन तीनों मन-वचन कायों का आत्मा से पूर्ण रूप से भेद ज्ञान होने पर जीव की मुक्ति समझनी चाहिये।

अर्थात् जब तक यह जीव मन-वचन-काय व इनके निमित्त से होने वाले रागादिक विकारों व अन्य बाह्य कार्यों को अपने सम-

झता रहता है तब तक वह जीव संसारी है और जब मन, वचन, काय इन तीनों को तथा इनके निमित्त से उत्पन्न हुए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को व स्त्री पुत्रादिक बाह्य पदार्थों को यह जीव पूर्णरूप से भिन्न समझ लेता है तब मुक्ति का पात्र बन जाता है।

शरीर और आत्माका भेदज्ञान होने पर यह जीव शरीर की दृढ़ता आदिसे आत्मा की दृढ़ता आदिक नहीं मानता।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मान, न घनं मन्यते बुधः ॥ ६३ ॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मान, न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं, न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं, न रक्तं मन्यते बुधः ॥६५॥
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मान, न नष्टं मन्यते बुधः ॥६६॥

अन्वयार्थ—बुद्धिमान पुरुष जैसे दृढ़ या मजबूत कपड़े को पहिनकर आत्मा को बलिष्ठ नहीं मानता वैसे ही शरीर के पुष्ट होने से आत्मा को पुष्ट नहीं मानता ॥ ६३ ॥ वस्त्रके पुराने हो जानेपर जैसे आत्मा को जीर्ण नहीं मानता वैसे ही शरीरके कृश या वृद्ध हो जाने पर आत्माको कृश या वृद्ध नहीं मानता ॥ ६४ ॥ रंगे हुए वस्त्र पहिनकर जैसे आत्माको रंगी हुई नहीं मानता, उसी तरह केशर, चन्दनादि से शरीरको रंगकर भी आत्माको रंगी हुई नहीं

मानता ॥६५॥ इसी प्रकार जैसे वस्त्र के नष्ट होजाने पर भी आत्माको नष्ट नहीं मानता, वैसे ही शरीरके नष्ट होने पर भी आत्माको नहीं मानता ॥६६॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष इस शरीरको नष्ट वस्त्रके समान समझते हैं, जैसे वस्त्रों के ग्रहण व त्यागमें अन्य जीवों को आत्मा के जीवन-मरणका भ्रम नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी पुरुषों को शरीर के ग्रहण व त्यागमे भी आत्माके जीवन—मरण का भ्रम नहीं होता।

परमवीतरागता रूप शांत दशाको कौन प्राप्त कर सकता है ?

यस्य सस्पन्दमाभाति, निस्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं, स शमं याति नेतरः ॥६७॥

अन्वयार्थ—(यस्य अप्रज्ञ अक्रियाभोगं सस्पंद जगत् निस्पदेन समं आभाति) जिस ज्ञानी पुरुषको ज्ञानरहित, आचरण आदि क्रियारहित तथा सुख आदि के अनुभव रूप भोग रहित, यह शरीरादि रुप जीवके निमित्त से अनेक चेष्टा करने वाला जगत्, निस्पंद-निश्चेष्ट-लकड़ी पत्थर सरीखा मालूम पड़ने लगता है वही पुरुष परम वीतराग शान्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है । इस परमवीतराग अवस्था को अनेक प्रकार के प्रपंच मे फंसे हुए मूढ़ बहिरात्मा जीव नहीं प्राप्त कर सकते ॥६७॥

बहिरात्मा अपने स्वरूप को क्यों नहीं पहिचानता ?

शरीर-कंचुकेनात्मा, संवृतो ज्ञानविग्रहः ।
नात्मान बुध्यते तस्माद्, भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

अन्वयार्थ—(शरीरकंचुकेन संवृतः ज्ञानविग्रहः आत्मा आत्मानं न बुध्यते तस्मात् भवे अतिचिर भ्रमति) ज्ञान ही है शरीर अथवा स्वरूप जिसका ऐसा यह आत्मा कार्माणशरीर रूपी काचली से ढका हुआ है। इसलिये अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर अनादिकाल से संसार चक्र मे भ्रमण करता फिर रहा है। यहाँ पर कांचली को केवल दृष्टान्त मात्र समझना चाहिये। जिस प्रकार सर्प के केवल ऊपरी भाग मे वृक्ष की छाल की तरह कांचली रहती है, शरीर के अदर नहीं रहती, उसी प्रकार आत्मा के साथ, कार्माणशरीर (सूक्ष्म शरीर) का सम्बन्ध नहीं समझना चाहिये। किन्तु संसारी आत्मा और कर्म को इस प्रकार मिला हुआ मानना चाहिये जिस प्रकार दूध में मीठा वा पानी में नमक मिल जाता है अथवा जैसे दाद की दवा बनाते समय पारे और गंधक को पीसकर एकमेल करने पर दोनो की अवस्था बिल्कुल कज्जल सरीखी हो जाती है। पारे की सफेदी व चमक और गंधक का पीलापन न जाने कहां चला जाता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का सर्वांश सम्बन्ध रहने पर दोनों के गुण विकृत रहते हैं। आत्मा का अनंत सुख-दुःख रूप परिणत रहता है और भी सम्यक्त्वादि गुणों की यही हालत रहती है ॥६८॥

बहिरात्मा शरीर को आत्मा क्यों समझता है ?

प्रविशद्गलतां व्यूहे, देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते, तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

अन्वयार्थ—(अबुद्धयः प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे

समाकृतौ स्थितिभ्रान्त्या तं आत्मानं प्रपद्यन्ते) मूढ बुद्धि वाले बहिरात्मा जीव निरंतर प्रवेश करने वाले व जीर्ण होने वाले पुद्गल परमाणुओं के समूह रूप शरीर को आत्मा के समान आकार वाला देखकर तथा शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र मे स्थिति होने के कारण उत्पन्न हुए भ्रम से शरीर को ही आत्मा जानते हैं।

भावार्थ—यदि इस शरीर का असली स्वरूप विचार कर देखा जाय तो यह घृणित पुद्गल परमाणुओं के पुंज के सिवाय और कुछ नहीं मालूम देता और जिन परमाणुओं से यह बना है वे भी इसमें शुरू से अत तक हमेशा नहीं रहते, किन्तु प्रतिक्षण शरीर मे नवीन-नवीन परमाणु आकर मिलते रहते है, और पुराने परमाणु निकलते रहते है। शरीर की यह दशा होते हुए भी आत्मा के समान आकार वाला होने से तथा बहुत काल से शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र मे स्थिति रहने से मूढ़ वहिरात्मा इस शरीर को ही आत्मा मानता है ॥६९॥

शरीर के धर्मोंसे आत्मा को पृथक् मानने का उपदेश।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेन विशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं, केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(अहं गौर स्थूल वा कृश इति अगेन विशेषयन् केवलज्ञप्तिविग्रह आत्मान नित्यं धारयेत्) मैं गोरा हूँ, स्थूल हूँ अथवा कृश हूँ, इस प्रकार शरीर के धर्मो से पृथक् समझकर आत्मा को नित्य ही केवलज्ञान स्वरूप अथवा रागादिक से भिन्न एक मात्र ज्ञानस्वरूप वा केवलज्ञान रूपी शरीर विशिष्ट मानना चाहिये ॥७०॥

मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता कब आती है ?

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य, चित्ते यस्याऽचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥७१॥

अन्वयार्थ—(यस्य चित्ते अचला धृति तस्य ऐकान्तिकी मुक्तिः) जिस पुरुष के चित्त मे आत्मस्वरूप की निश्चल स्थिति है। उसको नियम से मुक्ति प्राप्त होती है। (यस्य अचला धृति नास्ति, तस्य ऐकान्तिकी मुक्ति नास्ति) और जिस पुरुष की आत्मस्वरूप में स्थिति नहीं है उसको मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।

भावार्थ—यह जीव आत्मस्वरूप मे निश्चल होकर तन्मय होने से ही मुक्ति का पात्र होता है। बिना आत्मस्थिरता के मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को क्या करना चाहिये ?

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो, मनसश्चित्त-विभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं, जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

अन्वयार्थ—(जनेभ्य वाक्, ततः मानसः स्पन्दः) तस्मात् चित्तविभ्रमा भवन्ति, तत योगी जनैः संसर्ग त्यजेत जगत के जीवों से मिलने पर वचन की प्रवृत्ति होती है, वचन की प्रवृत्ति होने से मन में व्यग्रता होती है और व्यग्रता होने से मन विक्षिप्त सरीखा हो जाता है, इसलिये आत्महित या मोक्षपद के इच्छुक योगी पुरुषों को व्यवहारी जनों का संसर्ग सर्वथा छोड़ना उचित है।

नगर व वन की कल्पना किसके हृदय में होती है ?

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।

दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

अन्वयार्थ—(ग्रामः अरण्यं इति द्वेधा निवासः अनात्मदर्शिनाम्) यह ग्राम है अथवा यह वन है, इस प्रकार दो तरह के स्थान की कल्पना अनात्मदर्शी बहिरात्मा जीवों को ही होती है। (दृष्टात्मनां निवास तु विविक्त निश्चल आत्मा एव) और आत्मस्वरूप को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों का निवास-स्थान, वास्तव में उनका रागादि रहित निश्चल आत्मा ही होता है । क्योंकि आत्मज्ञानी पुरुष निरन्तर अपने आत्मगुणों के अनुभव मे ही रमे रहते है इसलिये उनका ध्यान बाह्य ग्राम, बन आदि स्थानों की तरफ नहीं जाता, परमानन्दमय निज आत्मा को ही वे एक प्रकार का मनोहर उपवन समझते हैं ॥ ७३ ॥

शरीर को आत्मा व आत्मा को आत्मा मानने से क्या होता है ?

देहान्तरगतेर्बीजं, देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।

बीजं विदेह-निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे आत्मभावना देहान्तरगते· बीजं) इस शरीर मे आत्मा की भावना करना दूसरे शरीर की प्राप्ति का कारण है। (आत्मनि एव आत्मभावना विदेहनिष्पत्तेः बीजं) और आत्मा मे ही आत्मा की भावना करना मोक्षप्राप्ति का कारण है।

भावार्थ—जो पुरुष शरीर को ही निश्चय से आत्मा समझता

है वह निरन्तर नवीन शरीर धारण करता रहता है और जो पुरुष आत्मा को ही निरन्तर आत्मरूप से चिन्तवन करता है, वह मुक्तरूप शुद्ध आत्मा हो जाता है।

आत्मा का गुरु कौन है ?

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्म निर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा एव आत्मानं जन्म निर्वाणं च नयति) आत्मा ही आत्मा को जन्मरूपी संसार मे रुलाता है और स्वयं ही संसार से पार करके मोक्ष पद प्राप्त कराता है। (तस्मात् आत्मनः गुरुः आत्मा परमार्थतः अन्य न अस्ति) इसलिये आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई वास्तव में गुरु नहीं है।

भावार्थ—आत्म-हित के उपदेशक आचार्यादिक गुरुओं का सच्चा उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव विषय-कषायादिक दिक का त्याग नहीं करता है तब तक बराबर संसार-सागर में रुलता रहता है और कभी-कभी आचार्यों के उपदेश सुने बिना भी विषय-कषायादिक त्याग करके मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। इसलिये वास्तव में आत्मा को स्वयं अपना गुरु अपने को ही मानना चाहिए।

बहिरात्मा को मरने से भय क्यों लगता है ?

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च, बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

अन्वयार्थ—(देहादौ दृढात्मबुद्धि आत्मन. नाशं मित्रादिभिः वियोगं च उत्पश्यन् मरणात् भृशं बिभेति) शरीरादिक मे जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि हो रही है वह पुरुष शरीर छूटते समय आत्मा का नाश मान कर तथा मित्रादिकों से वियोग हुआ जानकर, मरण से अत्यन्त भय खाता है।

भावार्थ—यद्यपि इस वर्त्तमान शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर प्राप्त करना पुराने कपड़े को उतार कर नवीन कपड़े पहिरने के समान है, इसमे भय करने की व दु ख मानने की कोई भी बात नहीं है। तथापि जो अज्ञानी जीव इस शरीर को आत्मा समझे हुए हैं और मित्र वर्ग मे अत्यन्त मोहित हो रहे है, उनको मरने से अत्यन्त भय लगता है। और इस भय लगने का मूल कारण वास्तव में उनका ही उपर्युक्त अज्ञान है॥ ७६ ॥

ज्ञानी पुरुष को मरने का भय क्यों नहीं होता ?

आत्मनेवात्मधीरन्यां, शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा, वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥७७॥

अन्वयार्थ—(आत्मनि एवं आत्मधी· शरीरगतिं आत्मन· अन्या वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रह इव निर्भय मन्यते) जिसको आत्मा मे ही आत्मबुद्धि हो गई है वह ज्ञानी पुरुष शरीर के विनाश को आत्मा से भिन्न मानता है और मरने-जीने को पुराने वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र पहिरने की तरह समझ कर निर्भय रहता है॥ ७७ ॥

एक साथ व्यावहारिक व पारमार्थिक कार्य क्यों नहीं सिद्ध होते ?

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।

जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्, सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

अन्वयार्थ—(य. व्यवहारे सुषुप्त. स· आत्मगोचरे जार्गति) जो व्यवहार के कार्यो मे सोता है अर्थात् उनसे उदासीन रहता है वह आत्मानुभव के विषय मे जागता है अर्थात् उसमें तन्मय रहता है। (अस्मिन् व्यवहारे य जागर्ति सः आत्मगोचरे सुषुप्त) और जो पुरुष व्यावहारिक कार्यों मे तन्मय रहता है वह आत्मानुभव मे कोसों दूर रहता है।

भावार्थ—जीवों के चित्त की वृत्ति एक समय मे विरुद्ध दो कार्यो मे नहीं लग सकती, जिस समय मन विषयों मे फँसा रहेगा उस समय आत्म-हित के कार्य उसे अच्छे नहीं लगेगे और जिस समय आत्म-हित की तरफ मनका झुकाव होगा उस समय उसे विषय-कषाय विष सरीखे लगने लगेगे।

जीव को मुक्ति कब प्राप्त होती है ?

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा, दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।

तयोरन्तर-विज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(आत्मानं अन्तरे दृष्ट्वा, देहादिकं बहिं दृट्वा-तयोः अन्तरविज्ञानात् अभ्यासात् अच्युतः भवेत्) आत्मा को अन्तरंग में देख कर और शरीरादिक को बाह्य जान कर शरीर और आत्मा की भिन्नता का दृढ़ ज्ञानाभ्यास करते-करते जीव मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—जब इस जीव को आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट मालूम होने लगता है तब यह शारीरिक क्रियाओं से उपेक्षा करने लगता है और सम्यक्ज्ञानादिक आत्मिक गुणों की प्राप्ति व वृद्धि के लिये प्रयत्न करने लगता है। इसी तरह करते-करते जब सम्पूर्ण देहादि सम्बन्धी क्रियाओं को छोड़ कर अपने सर्व आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास कर लेता है तब यह जीव मुक्त हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष जगत को कैसा जानते हैं ?

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य, विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्, काष्ठ-पाषाणरूपवत् ॥८०॥

अन्वयार्थ—(दृष्टात्मतत्त्वस्य जगत् पूर्वं उन्मत्तवत् विभाति, स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठ-पाषाणरूपवत्) जिसने अपने आत्मस्वरूप को जान लिया है उस ज्ञानी पुरुष को पहले यह जगत् उन्मत्त सरीखा मालूम देने लगता है, और जब आत्मानुभव का और भी अधिक दृढ़ अभ्यास हो जाता है तब उस महापुरुष को यह जगत् काष्ठ-पाषाण सरीखा बिल्कुल निश्चेष्ट दिखाई देने लगता है।

भावार्थ—जब इस जीव को देह व आत्मा का भेदज्ञान होने से अपने परमानन्दमय चैतन्यचमत्कारस्वरूप आत्मदेव का दर्शन होने लगता है उस समय वह ज्ञानी पुरुष इस अपूर्व आनन्द से जगत के जीवों को बंचित देख कर उनकी दशा पर करुणा करता हुआ विचार करता है कि देखो, ये संसारी प्राणी

कितने मूर्ख हैं। कि इस अपूर्व आनन्द को प्राप्त करने की योग्यता रखते हुए भी इस सुधारस के स्वाद से वंचित रहते हैं और अत्यन्त घृणित व नीरस विषय-भोगों को भोग कर अस्थि (हाड़) चाबने वाले श्वान की तरह आनन्द मानते हैं। पीछे वही ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूप के अनुभव में अत्यन्त तन्मय हो जाता है तब उसका ध्यान जगत के जीवों की तरफ बिल्कुल भी नहीं रहता, इसलिए वह जगत को काष्ठ-पत्थर आदि की तरह निश्चेष्ट—क्रियाशून्य ही समझता है। अर्थात् आत्मस्वरूप मे तन्मय हो जाने पर जगत विषयक करुणाभाव भी उसके हृदय से निकल जाता है। उस समय वह ध्यानी महात्मा राग-द्वेष रहित वीतराग दशा को प्राप्त हो ता है।

रीर व आत्मा की भेद-भावना के बिना मुक्ति नहीं होती—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं, वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद् भिन्नं, यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अन्वयार्थ—(कलेवराद् भिन्नं आत्मानं, अन्यतः शृण्वन् अपि, पि, यावत् भिन्नं न भावयेत् तावत् मोक्षभाक् न) 'शरीर से आत्मा भिन्न है', इस बात को उपाध्याय आदिक गुरुओं से सुनकर भी तथा इसी बात को दूसरों बार-बार कहते रहने पर भी जब तक भेदज्ञान की दृढ़-भावना नहीं की जाती तब तक मुक्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—आत्मा और शरीर के भेद की कथा को तोते की

तरह कहने-सुनने मात्र से विशेष फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु सुकौशलमुनि की तरह इस प्रकार की भेद-भावना होनी चाहिये जिससे कि व्याघ्रादि क्रूर जीवों के द्वारा शरीर के भक्षण किए जाने पर भी आत्मा मे आकुलता न होवे। अथवा पाण्डवों की तरह शरीर के जलते रहने पर भी राग उत्पन्न न होवे। इस प्रकार की दृढ़ भेदभावना से ही वास्तव मे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा को शरीर से भिन्न मानना कब सार्थक होता है ?

तथैव भावयेद् देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं, देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(देहात् व्यावृत्य आत्मानं आत्मनि तथैव भावयेत् यथा पुनः स्वप्नेऽपि देहे आत्मानं न योजयेत्) शरीर से भिन्न मानकर आत्मा की आत्मा मे इस प्रकार दृढ़-भावना करनी चाहिए जिससे कि स्वप्न मे भी शरीर मे आत्मा का प्रतिभास न होने पावे।

भावार्थ—किसी वस्तु का संस्कार हृदय से पूर्ण निकला हुआ तभी समझना चाहिये जब कि स्वप्न मे भी उस संस्कार का असर हृदय पर न होने पावे। इसी बात को लेकर इस श्लोक में बताया गया है कि वास्तव में आत्मा को शरीर से भिन्न मानना तभी सार्थक हो सकता है जब कि स्वप्न मे भी शरीर और आत्मा के एकपने का ज्ञान न होने पावे।

मोक्षप्राप्ति मे पाप और पुण्य दोनों प्रतिबन्धक जानने चाहिये—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं, व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

अन्वयार्थ—(अव्रतै अपुण्य, व्रतै· पुण्यं, तयो· व्ययः मोक्षः ततः मोक्षार्थी अव्रतानि इव व्रतानि अपि त्यजेत्) हिंसादिक अव्रतों से पाप हाता है, अहिंसा आदिक व्रतों से पुण्य होता है और पुण्य व पाप दोनो के नाश से मोक्ष होता है । इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुष को अव्रतो की तरह व्रतों को भी छोड़ना चाहिए ।

भावार्थ—मोक्ष प्राप्ति के लिये जैसे हिंसादिक पाप कार्य प्रतिबंधक हैं उसी तरह अहिंसादिक व्रत वा दया भाव आदिक पुण्य कार्य भी प्रतिबन्धक है ! इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को लोहे व सोने की बेड़ी के समान पाप व पुण्य दोनों को छोड़कर केवल अपने शुद्धात्मा के अनुभव में तन्मय होना चाहिये । यहां इतनी बात और जानने की है कि जब तक शुद्धात्मा में तन्मय होने की योग्यता न होवे तब तक पुण्य कार्यों को कदापि नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि यदि शुद्धोपयोग मे स्थिर हुए बिना ही शुभोपयोग को छोड़ दोगे तो इन दोनों उपयोगों के न रहने से चित्तवृत्ति पापकार्यो की तरफ झुक जायगी, जिससे आत्मा को और भी अधिक दुःख सहने पडेंगे । इसलिये शुद्धोपयोग के अभाव में अहिंसादिक की भावना रूप शुभोपयोग को ही परंपरा मुक्ति का कारण समझकर उनका अवलम्बन लेना चाहिये ।

पाप-पुण्य के त्याग करने का क्रम—

अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः ।

त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य, परमं पदमात्मनः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठित आत्मन. परमं पदं सम्प्राप्य तानि अपि त्यजेत्) हिंसादिक अव्रतोंको छोड़कर अहिंसादिक व्रतों मे स्थिर होना चाहिये अर्थात् उनको पालन करना चाहिये । पश्चात् राग-द्वेष रहित साक्षात् वीतराग पद की प्राप्ति हो जाने पर व्रतों को भी छोड़ना चाहिये । अर्थात् वीतराग दशा प्राप्त होने से पहले अहिंसादिक व्रतों को नहीं छोड़ना चाहिये ॥८४॥

दुःख का मूल कारण व मोक्ष का बाधक कौन है ?

यदन्तर्जल्पसम्पृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।

मूलं दुःखस्य तन्नाशे, शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(यत् अन्तर्जल्पसम्पृक्तं उत्प्रेक्षाजालं आत्मन दुःखस्य मूलं, तन्नाशे इष्टं परं पदं शिष्टं) अंतरंग वचनव्यापार से सहित जो अनेक प्रकार का कल्पनाजाल है वही वास्तव मे आत्मा के लिये दुःख का मूल है । इस संकल्प-विकल्प रूप कल्पना-जाल के नाश होने पर ही वास्तव में परम पद की प्राप्ति हो सकती है ।

भावार्थ—परमानन्दमय चैतन्य चमत्कार स्वरूप निज आत्म द्रव्य को न पहिचान कर जो यह जीव व्यर्थ ही अपने आत्मा को

सुखी, दुखी, राजा, रंक, सबल, निर्बल मानता रहता है तथा इन्हीं बातों को लेकर जो और भी अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता है यह सब प्रपंच ही इस जीव के संसार में भटकने का मूल कारण है और इस प्रपंच को छोड़ने से ही इसको मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

कल्पना-जाल के नाश करने का क्रम।

अव्रती व्रतमादाय, व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः, स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(अव्रती व्रतं आदाय, व्रती ज्ञानपरायणः, परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयं एव परः भवेत्) अव्रती अवस्था मे उत्पन्न होने वाली कल्पनाओं को तो व्रत ग्रहण करके नाश करे; और व्रती अवस्था मे होने वाली कल्पनाओं को ज्ञान-भावना मे तन्मय होकर नाश करे, पश्चात् अर्हंत अवस्था मे सर्वज्ञ पद प्राप्त करके क्रम से मुक्ति-मन्दिर मे अनन्त काल तक निवास करे।

भावार्थ—गृहस्थ अवस्था मे स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिक के प्रपंच मे पड़े रहने से जो अनेक प्रकार के इष्टानिष्ट संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। साधु पद ग्रहण करके पहले तो इन गृहस्थ सम्बन्धी विकल्पों का त्याग करना चाहिये; पश्चात् साधु अवस्था में भी पीछी-कमण्डलु, शिष्य-प्रशिष्य आदि के निमित्त से जो विकल्प उठते हैं उनको निरन्तर ज्ञानाभ्यास वा आत्मभावना में लीन होकर छोड़ना चाहिए। इसी प्रकार क्रम से शुक्लध्यान द्वारा अर्हंत पद प्राप्त कर सिद्ध पद प्राप्त करना चाहिये ॥८६॥

साधुवेष धारण करने मात्र से मुक्ति नहीं हो सकती।

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं, देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(लिंग देहाश्रित दृष्ट, देह एव आत्मन भव., तस्मात् ये लिंगकृताग्रहा. ते भवात् न मुच्यन्ते) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदिक जो भेष है वे सब शरीर के आश्रित है और शरीर के निमित्त से ही आत्मा ससारी कहलाता है। इसलिए केवल भेष मात्र से ही मुक्ति प्राप्त करने का आग्रह करने वाले पुरुष ससार से मुक्त नही हो सकते।

भावार्थ—बहुत से अज्ञानी साधु दुराग्रह वश सम्यग्ज्ञ न, ध्यान आदि के बिना केवल भेष मात्र को ही मुक्ति का कारण मान बैठते हैं, ऐसे पुरुषों को समझाने के लिए आचार्य महाराज कहते हैं, कि केवल भेष मात्र से मोक्ष-प्राप्ति का आग्रह करना मूर्खता है, साधु-वेश धारण करके उस पद के योग्य ज्ञान-ध्यान आदिके करने से ही वास्तव मे आत्म-हित हो सकता है। यहां पर एक बात यह और जानने की है कि जिस प्रकार बहुत से अज्ञानी साधुओं को वेश मात्र का पक्ष होता है। ऐसे ही बहुत से दुर्विदग्ध पुरुषों को ज्ञान मात्र का पक्ष भी होता है। अर्थात् जैसे कोई २ पुरुष ज्ञान के बिना साधु वेश मात्र से मुक्ति-मन्दिर मे प्रवेश करने का प्रयास करते हैं वैसे ही बहुत से पुरुष साधु-वेश के बिना ज्ञान-मात्र से ही मोक्ष-प्राप्ति का स्वप्न देखा करते हैं, यह भी ऐसे

पुरुषो का केवल भ्रममात्र है, जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान, मोक्ष-प्राप्ति मे साधक है उसी प्रकार द्रव्य चारित्र भी साधक है केवल एकांत मानने का ग्रन्थकार ने निषेध किया है। इसी भाव का एक यह काव्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसार के कलशों मे लिखा है—

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा, ज्ञान न जानन्ति य-
न्मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं, ज्ञान भवन्त स्वयं ।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश, यान्ति प्रमादस्य च ॥१॥

अर्थात्—जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आत्मा को न जान कर केवल बाह्य क्रियाकाण्ड को मुक्ति का कारण जान उसमे ही तन्मय रहते है वे भी संसार मे डूबते है और जो शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हुए बिना ही मिथ्या ज्ञान के कुतर्को मे पड़ कर व्यवहार चारित्र को सर्वथा छोड़ देते है वे भी संसार मे ही डूबते है। किन्तु जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर उसमें तन्मय होते हैं अर्थात् जिनकी निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मय एक अभेद रूप परिणति हो जाती है वे ससार से पार होते है। ऐसी अवस्था होने पर व्यवहार चारित्र का छूटना कार्य-कारी है और जब तक यह परमशान्ति दशा प्राप्त न हो तब तक प्रमादरहित होकर व्यवहार रत्नत्रय का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है ॥८७॥

उत्तम जाति में उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति नहीं हो सकती।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा, देह एवाऽऽत्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

अन्वयार्थ—(जातिः देहाश्रता दृष्टा, देह एव आत्मनः भव, तस्मात् ये जातिकृताग्रहा, ते भवात् न मुच्यन्ते) ब्राह्मण आदि जातियां शरीर के आश्रित हैं और शरीर ही आत्मा के लिये संसार है इस लिए जिनको जातीय पक्ष का अनुचित दुराग्रह होता है वे ससार से मुक्त नहीं हो सकते। यहा पर भी यह बात विशेष जानने की है कि यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम जातियों मे उत्पन्न हुए पुरुषों को ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है अन्य को नहीं हो सकती तथापि मुक्ति-प्राप्ति के ज्ञान-ध्यानादि साधन किए बिना केवल उत्तम जाति मे उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति मानना भ्रम है। यहां भी आचार्य महाराज ने 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' 'काशी-मरणान्मुक्ति' इस प्रकार मिथ्या एकान्त छुडाने के लिये यह श्लोक लिखा है ॥८८॥

मिथ्या शास्त्रोंका दुराग्रह करनेसे भी परमपदकी प्राप्ति नहीं होती।

जाति-लिंग-विकल्पेन, येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव, परमं पदमात्मनः ॥८९॥

अन्वयार्थ—(येषा जातिलिंगविकल्पेन समयाग्रह तेऽपि आत्मनः परमं पद न प्राप्नुवन्त्येव) जिन पुरुषों को पूर्व मे कहे हुए जाति और लिंग के विषय मे शास्त्र-प्रतिपादित होने का आग्रह है अर्थात् ब्राह्मणत्व आदि जाति में उत्पन्न होने मात्र से अथवा किसी

एक वेश मात्र के धारण करने से ही मुक्ति हो जाती है इस प्रकार के कथन वाले शास्त्रों को प्रमाण मानकर जो पुरुष अनेक प्रकार के दुराग्रह करते रहते हैं वे भी आत्मा की शुद्ध अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकते ।

बिना मोह मंद हुए बाह्य चारित्र कार्यकारी नहीं ।

यत्त्यागाय निवर्त्तन्ते, भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति, द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

अन्वयार्थ—(यत्त्यागाय यदवाप्तये भोगेभ्य· निवर्त्तन्ते, मोहिनः तत्रैव प्रीतिं अन्यत्र द्वेषं कुर्वन्ति) शरीरादिक परपदार्थों से ममत्व दूर करने के लिये तथा वीतराग अवस्था की प्राप्ति के लिये बहुत से पुरुष विषय-भोगों को छोड़ कर साधु हो जाने पर भी पश्चात् मोह के उदय से शरीरादिक में प्रीति व वीतरागता के साधनों से द्वेष करने लगते हैं ।

भावार्थ—अंतरग राग-द्वेष-मोह के शांत हुए बिना यदि कोई पुरुष किसी उत्तेजना आदि के कारण विषय-भोगों को छोड़ कर मुनिव्रत भी धारण कर लेता है तो शीघ्र ही फिर पतित हो जाता है । ऊपर से मुनि सरीखा वेश रखकर भी वह शरीर मे अथवा भोजनादिक में प्रीति रखने लगता है और जिस वीतराग दशा की प्राप्ति के उद्देश्य से उसने मुनिव्रत लिये थे उससे वा उसके साधन भूत ज्ञान, ध्यान आदि से पराङ्मुख रहने लगता है, इस प्रकार मोह के उदय से क्रोधादि अंतरंग परिग्रहों को न छोड़ सकने

के कारण वह दु:खी ही रहता है। इस लिये आत्म-हित के इच्छुक पुरुषों को पहले मोह मद करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये और जितना २ मोह मद होता जाय, उतना २ व्यवहारचारित्र बढ़ाते जाना चाहिये।

शरीर मे आत्मा के भ्रम होने का दृष्टांत।

अनन्तरज्ञः सन्धत्ते, दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगाद् दृष्टिमंगेऽपि, संधत्ते तद्वदात्मनः ॥६१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञ संयोगात् यथा पंगो दृष्टिं अन्धके संधत्ते, तद्वत् आत्मन: दृष्टिं अंगे अपि संधत्ते) लंगडे और अंधे के भेद को न जानने वाला पुरुष जैसे लगड़े की दृष्टि को अंधे मे आरोपित करता है वैसे ही आत्मा और शरीर को न जानने वाला पुरुष आत्मा की दृष्टि को शरीर मे आरोपित करता है।

भावार्थ—जैसे अधे के कंधे पर लगडा चढा हुआ जा रहा हो अर्थात् अन्धे को लगड़ा रास्ता बताता जा रहा हो और अन्धा अपने पैरों से चलता जा रहा हो, ऐसी दशा मे कोई पुरुष अपने नेत्रों की मद ज्योति से यदि लगडे को न देखकर यह समझे कि यह चलने वाला पुरुष ही अपनी आंखों से देखकर जा रहा है तो यह उस मंद ज्योति वाले का जानना जिस प्रकार ठीक नहीं है उसी प्रकार आत्मा व शरीर का सयोग होने से जो पुरुष शरीर को ही आत्मा समझता है उसका भी वह ज्ञान ठीक नहीं है।

अंतरात्मा को शरीर में आत्मा का भ्रम नहीं होता।

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं, पङ्गोरन्धेन योजयेत्।
तथा न योजयेद् देहे, दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

अन्वयार्थ—(दृष्टभेद· यथा पगो· दृष्टिं अन्धे न योजयेत् तथा दृष्टात्मा आत्मन· दृष्टिं देहे न योजयेत्) लंगडे व अन्धे के भेद को जानने वाला जैसे लगड़े को अन्धा नहीं समझता है उसी प्रकार आत्मा व शरीर का भेद जानने वाला पुरुष आत्मा को शरीर नहीं समझता है। अर्थात् जिस पुरुष को अन्धे व लगड़े के भेद की तरह शरीर व आत्मा का भेद मालूम पड़ जाता है वह शरीर को आत्मा न समझ कर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के पुञ्ज को आत्मा समझता है।

कौन पुरुष किस अवस्था को भ्रम रूप समझता है।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव, विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य, सर्वावस्थात्मदार्शिनः ॥९३॥

अन्वयार्थ—(अनात्मदर्शिनां सुप्तोन्मत्ताद्यवस्था एव विभ्रम आत्मदर्शिन अक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाविभ्रम·। अथवा आत्मदर्शिनां सुप्तोन्मत्ताद्यवस्था एव—'अपि' विभ्रम· न, सर्वावस्थात्मदर्शिनः अक्षीणदोषस्य विभ्रम.) आत्मस्वरूप को न जानने वाले बहिरात्मा पुरुषों को केवल सुप्त व उन्मत्त अवस्था ही भ्रमरूप मालूम देती है किन्तु आत्मदर्शी पुरुष को रागी पुरुषों की सर्व ही अवस्थायें भ्रम रूप मालूम देती हैं। अथवा, इस श्लोक का दूसरा

अर्थ यह है कि आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त (निद्रावस्था) व उन्मत्त अवस्था भी भ्रम रूप नहीं होती, और देहादिक की सम्पूर्ण अवस्थाओं को आत्मा की अवस्थायें जानने वाले रागी पुरुष की सुप्त व उन्मत्त सर्व ही अवस्था भ्रम रूप होती हैं।

भावार्थ—व्यवहारी जन तो स्वप्न के ज्ञान को या उन्मत्त-पागल पुरुष के ज्ञान को या उसकी क्रियाओं को ही मिथ्या समझते हैं किन्तु आत्मदर्शी पुरुष प्रपंच मे फंसे हुए बहिरात्मा पुरुषों की समस्त क्रियाओं को ही भ्रम रूप समझते है क्यों कि व्यवहारी जन चाहे शुभ कार्य करे, चाहे अशुभ कार्य करें कोई भी कार्य उनका राग द्वेष के बिना नहीं होता, और जिन कार्यों मे राग-द्वेष लगा हुआ है वे सब कार्य परमार्थदृष्टि से भ्रम रूप हैं आत्म-स्वभाव नहीं हैं । इसी से आत्मदर्शी पुरुष व्यवहारी जीवोंके समस्त कार्योंको भ्रम रूप समझते हैं। दूसरा अर्थ संस्कृत टीका मे इस श्लोक का यह भी दिया है कि आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त व उन्मत्तादि अवस्था भ्रम रूप नहीं होती। क्योंकि जो पुरुष आत्मरस मे भीगे हुए हैं अथवा यों कहिये कि जिनको परमानन्दमय आत्मिक सुधारस के पान करने का अभ्यास पड़ गया है। उनको जब इन्द्रियो की शिथिलता से निद्रा आ जाती है अथवा खान-पान की प्रतिकूलता व रोग आदि से कदाचित् मूर्च्छा भी आ जाती है तो भी उनकी आत्मानुभव की वासना नहीं छूटती। इसलिये ऐसे आत्मदर्शी पुरुषों की सुप्त व उन्मत्त अवस्था भी भ्रम रूप नहीं होती, यदि वे सुप्त व उन्मत्त अवस्थायें भ्रम रूप

होती हैं तो शरीरादिक बाह्य पदार्थों की समस्त अवस्थाओं को आत्मरूप समझने वाले बहिरात्मा पुरुषों की ही होती हैं।

कर्म-बन्ध किससे छूटता है और किससे नहीं छूटता ?

विदिताऽशेषशास्त्रोपि, न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥६४॥

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टि विदिताशेषशास्त्रः अपि, जाग्रत् अपि न मुच्यते, ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्त. अपि मुच्यते) जिस पुरुष की शरीरादिक बाह्य पदार्थों मे आत्मदृष्टि है वह सम्पूर्ण शास्त्रों को जानता हुआ तथा जागता हुआ भी कर्म-बन्ध से नहीं छूटता और जो पुरुष आत्मज्ञानी है उसके सोते हुए भी तथा मूर्छित अवस्था मे भी कर्म-निर्जरा होती रहती है।

भावार्थ—शरीर व आत्माके भेद-ज्ञान बिना कोरा तोते की तरह रट कर प्राप्त किया शास्त्रज्ञान आत्म-हित का साधक नहीं है और आत्मज्ञान होने पर सुप्त व मूर्च्छित अवस्था भी आत्मा की हानि करने मे समर्थ नहीं है।

मन किस वस्तु में लीन होता है ?

यत्रैवाऽऽहितधीः पुंसः, श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते ॥६५॥

अन्वयार्थ—(पुंसः यत्र एव आहितधीः तत्र एव श्रद्धा जायते, यत्र एव श्रद्धा जायते, तत्र एव चित्तं लीयते) पुरुष की जिस पदार्थ

मे बुद्धि लग जाती है उसी मे उसको श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और जिस पदार्थ मे श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसी मे उसका मन रम जाता है।

भावार्थ—जिस पुरुष को जो वस्तु प्रिय मालूम देती है उसी वस्तु को ग्रहण करने की उस पुरुष की इच्छा होती है और जिसके ग्रहण करने की इच्छा होती है उसी वस्तु मे उसका मन हर समय लीन होता है। इस नियम के अनुसार जिस पुरुष को आत्म-अनुभव करना अच्छा लगता है उसको आत्मानुभव करते रहने की ही निरंतर इच्छा रहती है और इसी कारण उसका मन आत्मानुभव मे ऐसा तन्मय रहता है कि स्वप्न मे भी आत्मानुभव से अलग होना नहीं चाहता। इसके विरुद्ध जिस पुरुष को विषयों से प्रीति है उसका मन निरतर विषयों मे ही फंसा रहता है और इसी कारण यदि उसको शास्त्रज्ञान भी हो जाता है तो वह कार्य-कारी नहीं होता ॥९५॥

मन किस वस्तु से उदास नहीं होता ?

यत्रैवाऽऽहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्त्तते।
यस्मान्निवर्त्तते श्रद्धा, कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

अन्वयार्थ—(पुंस॰ यत्र एव आहितधी॰ तस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते, यस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते चित्तस्य तल्लय॰ कुत) पुरुष की जिस वस्तु मे अनुपकारक बुद्धि होती है अर्थात् जिस वस्तु को वह हितकारी नहीं समझता उस वस्तु मे उसकी रुचि नहीं होती और जिस वस्तु

मे रुचि ही नहीं है उस वस्तु मे मन कैसे लग सकता है ? अर्थात् जैसे किसी पुरुष को यदि विषय-कषायों से वचना हो तो पहले उसे विषय-कषायों को दु खदाई समझना चाहिये, क्योंकि जब उसकी बुद्धि मे विषय कषाय दु खदाई मालूम देने लगेंगे तब स्वयं ही उसकी रुचि उनसे हट जायगी और रुचि हटने से मन विषय-कषायों के सेवन करने से उदास हो जायगा । ॥९६॥

ध्येय को ध्याता से भिन्न मानकर भी ध्यान करना उत्तम ही है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परो भवति तादृशः ।
वर्त्तिर्दीप यथोपास्य, भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

अन्वयार्थ—(आत्मा भिन्नात्मानं उपास्य तादृश' परः भवति, यथा भिन्ना वर्त्ति दीपं उपास्य तादृशी भवति) यह जीव अपने से भिन्न अर्हंत-सिद्ध स्वरूप परमात्मा की उपासना करके उन ही सरीखा अर्हंत-सिद्ध रूप परमात्मा हो जाता है। जैसे कि बत्ती, दीपक से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है।

भावार्थ—परमात्मा को भिन्न मानकर भी उसका ध्यान-मनन आदि करो तभी आत्मशुद्धि होती है। यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि जब तक 'जो परमात्मा है वही मैं हूँ।' और 'जो मैं हूँ, वही परमात्मा है।' इस प्रकार ३१वें श्लोक मे कहे अनुसार ध्याता-ध्यान-ध्येय को एक रूप मानकर ध्यान करने की योग्यता न होवे तब तक ध्याता—ध्येय की भेद-भावना से ध्यान करने को भी

हेय नहीं समझना चाहिए, किन्तु भेद-भावना से किये हुए ध्यान के द्वारा भी आत्मा का बहुत हित होता है, यही समझना चाहिये।

ध्येय को ध्याता से अभिन्न मानकर ध्यान करने का

दृष्टान्त पूर्वक समर्थन।

उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव, जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥९८॥

अन्वयार्थ—(अथवा आत्मा आत्मान एवं उपास्य परम जायते, यथा तरु आत्मा आत्मान एव मथित्वा अग्निः जायते) अथवा आत्मा अपनी ही उपासना करके परमात्मा हो जाता है। जैसे बासका वृक्ष बासके साथ ही रगड़ खाने से अग्निरूप हो जाता है।

भावार्थ—यदि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को ही ध्येय समझ कर उसमे ही तन्मय होकर अभेदरूप से ध्यान करता है तो परमात्मपद प्राप्त कर लेता है। जैसे कि बांस, बांस के साथ ही रगड़ खाने से अग्निरूप हो जाता है ॥९८॥

भेदाभेद का उपसंहार

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नाऽऽवर्त्तते पुनः ॥९९॥

अन्वयार्थ—(इति इदं नित्यं भावयेत्, स्वतः एव तत् अवाचां गोचरं पद आप्नोति यतः पुनः न आवर्त्तते) अब आचार्य महाराज भेदाभेद का उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि आत्म-स्वरूप को

भिन्न रूप अथवा अभिन्नरूप मानकर निरन्तर भावना करनी चाहिये। जिससे कि वचनके अगोचर उस परमात्मपदकी प्राप्ति होवे जिससे कि फिर छूटना नहीं होता और संसार के दुःख भोगने नहीं पड़ते।

आत्मा भूतचतुष्टय से उत्पन्न नहीं है और संसार अवस्था में सर्वथा शुद्ध नहीं है।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं, चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न, दुःखं योगिनां क्वचित् ॥१००॥

अन्वयार्थ—(यदि चित्तत्त्वं भूतजं तर्हि निर्वाणं अयत्न साध्य, अन्यथा योगत तस्मात् योगिनां क्वचित् दुखं न) यदि कदाचित् चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी उत्पत्ति चार्वाक के मतानुसार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से ही मान ली जाय तो फिर मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जब भूत-चतुष्टयसे उत्पन्न हुआ शरीर ही आत्मा मान लिया गया तो शरीर के नाश को ही मोक्ष मानना पडेगा और जब कि शरीर का नाश, आयु समाप्त होने पर स्वय ही हो जाता है तब फिर उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ सिद्ध होता है। इसलिये मोक्ष पुरुषार्थ को ध्यान में रखते हुए चार्वाक की इस मनगढन्त कल्पना को ठीक नहीं समझना चाहिये। दूसरे, यदि चैतन्यस्वरूप आत्मा को सांख्यमत के अनुसार सर्वथा स्वभावसिद्ध शुद्धस्वरूप ही मान लिया जाय तो भी मोक्षप्राप्ति के लिये

पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि आत्मा की अशुद्धरूप ससार अवस्था से शुद्धरूप मोक्ष अवस्था के प्राप्त करने के लिये ही ज्ञान-ध्यान, जप-तप आदि पुरुषार्थ व उद्योग की आवश्यकता होती है और यदि आत्मा को अनादि से ही सर्वथा शुद्ध स्वरूप मान लिया जाय तो फिर मोक्ष प्राप्ति के लिये किया गया सब परिश्रम व्यर्थ पड़ जाता है, इसलिये यह सांख्यमतका कथन भी युक्तिसगत नहीं समझना चाहिये। हा, यदि जीवन्मुक्त रूप अरहंत अवस्था की अपेक्षा आत्मतत्त्व को शुद्धस्वरूप माना जाय तो यह बात बन सकती है और इस दशा मे मोक्ष भी अप्रयत्न सिद्ध बन सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ रूप अरहन्त केवली का आत्मा भी शुद्ध हो जाता है और मोक्षप्राप्ति के लिये अब वे कोई बुद्धिपूर्वक प्रयास भी नहीं करते, इसलिये उनकी मुक्ति भी अरहंत अवस्था की अपेक्षा बिना प्रयत्न के कही जा सकती है, इसके अतिरिक्त अरहंत अवस्था से नीचे के गुणस्थान वाले जो मुनि हैं उनको ध्यानादिक के करने से ही अरहत अवस्था पूर्वक मुक्ति प्राप्त होती है इसलिये मुक्ति के लिये प्रयत्न करना भी आवश्यक सिद्ध होता है। यहा कदाचित् यह शका हो सकती है कि प्रयत्नसिद्ध मुक्ति मानने मे तो प्रयत्न करते समय कष्ट भोगना पडेगा और जिस कार्य के करने में प्रथम ही कष्ट भोगना पडे, उसमे पीछे से सुख क्या मिल सकता है ? इस प्रश्न का खुलासा उत्तर यही है कि मुक्तिप्राप्ति के लिये कठिन-से-कठिन तप व ध्यान आदि करते हुए भी महर्षि जन खेद नहीं मानते किन्तु अपने लक्ष्य

की सिद्धि होते देख तप-ध्यान आदि करने में आनन्द मानते हैं, क्योंकि वे शरीर को आत्मा से भिन्न समझते हैं इसलिये शरीर के कृश होने से उनको खेद नहीं होता।

शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि, न नाशोऽस्ति यथाऽऽत्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि, विपर्यासाऽविशेषतः ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(स्वप्ने दृष्टे विनष्टे अपि यथा आत्मन नाश न अस्ति तथा—जागरदृष्टे अपि, विपर्यासाऽविशेषत.) स्वप्न में शरीर के नाश होने पर भी जैसे आत्मा का नाश नहीं होना, उसी प्रकार जागृत अवस्था मे भी शरीर के नाश होने पर आत्माका नाश नहीं होता।

यहा यह शका हो सकती है कि स्वप्न मे तो भ्रम से शरीर के नाश के साथ आत्माका नाश मालूम पडता है? इसके उत्तर में जागृत अवस्था मे भी शरीर के नाश के साथ आत्मा के नाश को भ्रमरूप ही समझना चाहिये; क्योंकि जैसे झोंपड़ी के जल जाने पर आकाश नहीं जलता वैसे ही शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। हां ! स्वप्न अवस्था में शरीर का भी नाश भ्रम रूप है। जागृत अवस्था में मरते समय शरीर के परमाणु बिखर कर अवश्य अलग-अलग हो जाते हैं अर्थात् उनकी शरीर-रूप स्कन्ध पर्याय वास्तव मे नष्ट हो जाती है। किन्तु आत्मा का अभाव दोनों अवस्थाओं में नहीं होता। आत्मा की सिद्धि अष्ट-

सहस्री; प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों मे विस्तार पूर्वक है। यहां खंडन-मंडन के विषय पर दृष्टि नहीं दी गई है।

कायक्लेशादि करके आत्मा को शरीर से भिन्न जानने का अभ्यास करना चाहिये।

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःख-सन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(अदु खभावितं ज्ञानं दु खसन्निधौ क्षीयते, तस्मात् यथाबलं आत्मानं दु.खै. भावयेत्) सुकुमारता पूर्वक, बिना काय-क्लेश आदि तप किये, जो शरीर व आत्मा का भेदज्ञान हो जाता है वह उपसर्ग, परिषह आदि कष्टों के आने पर नष्ट भी हो जाता है। इस लिये मुनि-जनों को यथाशक्ति कायक्लेश आदि तप करके ही शरीर से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये।

भावार्थ—जिसको अनेक प्रकार के भयकर कष्टों के आने पर भी शरीर का मोह उत्पन्न न होवे, वही सच्चा भेदज्ञानी समझा जा सकता है और यह बात तभी हो सकती है जब शरीर को स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट देकर निराकुल रहने का अभ्यास किया जावे।

आत्मा के चलने पर शरीर क्यों चलता है?

प्रयत्नादात्मो वायुरिच्छा-द्वेष-प्रवर्त्तितात्।
वायोः शरीरयन्त्राणि, वर्त्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(इच्छाद्वेषप्रवर्त्तितात् आत्मनः प्रयत्नात् वायुः चलति वायोः शरीरयंत्राणि स्वेषु कर्मसु वर्त्तन्ते) राग द्वेष से उत्पन्न हुए आत्मा के प्रयत्न से शरीर के भीतर वायु चलती है और वायु के चलने से शरीर व इन्द्रियरूपी यन्त्र अपना २ कार्य करने लगते हैं।

भावार्थ—यहां पर किसी की यह शंका है कि जब शरीर व आत्मा बिल्कुल भिन्न २ पदार्थ हैं तब आत्मा की इच्छा के आधीन शरीर का गमन क्यों होता है ? अथवा जिधर को आत्मा जाता है, जीवित अवस्था में उधर को ही शरीर क्यों जाता है ? इसी शंका के उत्तर में यह श्लोक लिखा गया है कि पहले आत्मा से राग-द्वेष के वश प्रयत्न पैदा होता है, वह प्रयत्न शरीर के भीतर की वायु को इच्छित स्थान की तरफ चलाता है और वायु रेलगाड़ी की तरह शरीर को उधर ही खैंच कर ले जाती है।

शारीरिक क्रियाओंमें बहिरात्मा ही सुख मानता है।

तान्यात्मनि समारोप्य, साक्षाण्यास्ते सुखं जडः।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान्, प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(जड साक्षाणि तानि आत्मनि समारोप्य सुखं आस्ते, विद्वान् पुनः आरोपं त्यक्त्वा परम पदम् प्राप्नोति) मूर्ख पुरुष इन्द्रियों सहित उन औदारिकादि शरीरों को आत्मा मानकर सुख मानता है और ज्ञानी पुरुष शरीर व इन्द्रियों में आत्मा का संकल्प त्यागकर परमपद को पाता है। अर्थात् मूढ़ बहिरात्मा, शरीर व

इन्द्रियों की अनेक क्रियाओं को आत्मा की ही क्रिया जानकर सुख मानता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं मानते।

ग्रंथ का उपसंहार

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसार-दुःख-जननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्म-निष्ठ—
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(तनमार्ग एतत् समाधितंत्रं अधिगम्य परात्मनिष्ठा संसारदुःखजननीं परत्र परबुद्धिं अहंधियं च मुक्त्वा जननाद् विमुक्त ज्योतिर्मयं सुखं उपैति) ग्रन्थकर्त्ता श्री पूज्यपाद स्वामी ग्रन्थ का उपसंहारकरते हुए कहते हैं कि परमानद मय शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के उपायभूत इस शांतिमय आत्मस्वरूप के प्रतिपादक समाधितन्त्र शास्त्र को जान कर परमात्मा की भावना मे स्थित पुरुष स सार के दुःखों को उत्पन्न करने वाली परपदार्थों में परमात्मबुद्धि व आत्मबुद्धि को त्याग कर स सार से मुक्त होता है और ज्ञानानन्द-मय सुखनिधि स्वरूप परमात्मपद को प्राप्त होता है ॥इति शुभम् ॥